नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचार पत्र ● वर्ष 8 अंक 5-6
संयुक्तांक ● जून-जुलाई 2006 ● तीन रुपये ● बारह पृष्ठ

अनुराग पुस्तकालय एवं वाचनालय

होशियार! शासक वर्गों के राजनीतिक नुमाइन्दे नये-नये राजनीतिक जाल बुन रहे हैं!

झाँसे में मत आओ! क्रान्तिकारी विकल्प के साथ आगे बढ़ो!

सम्पादक

उत्तर प्रदेश में विधानसभा के चुनावी तमाशे का तम्बू-कनात सजने में अभी छह महीनों से अधिक की देरी है लेकिन तैयारियाँ अभी से चालू हो चुकी हैं। चुनावी खेल-तमाशे के तमाम उस्ताद-बाजीगर-जादूगर अपने-अपने करतबों की रिहर्सल शुरू कर चुके हैं। चुनावों की तारीख घोषित होते ही जनता की आँखों में धूल झोंकने, भ्रम की चादर फैलाने और सामूहिक वशीकरण का जाल फैलाने के लिए अन्धाधुन्ध शो शुरू हो जायेंगे।

हालाँकि लोकसभा चुनाव की कोई फौरी सम्भावना फिलहाल नज़र नहीं आ रही है लेकिन यह जब भी होगा तब तक 'ग़रीबों के आँसू पोंछने वाली सरकार' गरीबों के आँसू पूरी तरह सुखा चुकी होगी। इस हालत में जनता के आक्रोश को किस तरह भुनाकर कुर्सी हथियायी जाये, इस दिशा में भी कवायदें अभी से शुरू हो गयी हैं। इस मामले में सबसे अधिक सक्रियता 'मण्डल मसीहा' वी.पी. सिंह दिखा रहे हैं। गैर कांग्रेस-गैर भाजपा तीसरे मोर्चे का राग उन्होंने छेड़ दिया है। इस मोर्चे के शुरुआती प्रयोग के लिए फिलहाल उत्तर प्रदेश की ज़मीन सबसे माकूल है इसलिए 'मण्डा के राजा' ने फकीर का बाना फिर से धारण कर लिया है और 'सरकार नहीं जमाना बदलने' का नारा उछालते हुए किसानों, नौजवानों और गरीबों को बरगलाना शुरू कर दिया है।

उधर चुनावी राजनीति के मँजे हुए धनुर्धर अर्जुन सिंह ने जो नया मण्डल-तीर छेड़ा है उसने सरकार के भीतर और बाहर सभी चुनावी बिरादरों को एकबारगी बैकफुट पर लाकर खड़ा कर दिया है। वैसे अर्जुन सिंह ने किसी तात्कालिक चुनावी लाभ के लिए यह तीर नहीं छोड़ा है। उनकी निगाहें अगले लोकसभा चुनावों और प्रधानमंत्री की कुर्सी पर है। अर्जुन सिंह धीरज के साथ अपनी ही सरकार के घनघोर पूँजीपरस्त चेहरे के बेनकाब होते जाना देखते हुए उचित समय का इन्तज़ार कर रहे हैं। भविष्य में उभरने वाली जो मोर्चाबन्दी-गिरोहबन्दी-दलबन्दी उन्हें अपने लक्ष्य के करीब पहुँचायेगी। उसके साथ खड़े होने का फैसला वह उचित समय पर ही करेंगे।

बहरहाल, सभी चुनावी पार्टियों की फौरी दिलचस्पी उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनावों पर ही केन्द्रित है। यहाँ जनता के बीच जाति-धर्म आधारित संकीर्ण बँटवारों को उभाड़कर अपना-अपना वोट-बैंक बनाने का खेल अब तक के सबसे घिनौने स्तर पर चल रहा है। भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में देश को देशी-विदेशी पूँजीपति लुटेरों का खुला चरागाह बना देने के सवाल पर कांग्रेस-भाजपा ही नहीं मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद, नीतीश कुमार से लेकर बुद्धदेव भट्टाचार्य तक सभी के बीच आम राय है इसलिए जनता का वोट बटोरने के लिए जाति-धर्म और बन्दूकों-नोटों का सहारा लेने के अलावा और कोई भी चारा नहीं बचा है। सभी पार्टियों के बीच खुद को दलितों-पिछड़ों-अति पिछड़ों-अल्पसंख्यकों का मसीहा बनने की आपाधापी मची है। राष्ट्रीय स्तर की चुनावी पार्टियों से चुनावी सौदेबाजी करने के लिए मुख्यतः जाति या धर्म आधारित नयी-नयी राजनीतिक दुकानदारियाँ भी खुल रही हैं जिससे चुनाव जिताने-हराने से लेकर सरकार बनाने-बिगाड़ने के खेल में जमकर बोली लगायी जा सके। मुख्यतः कुर्मी जाति के आधार पर खड़ा सोने लाल पटेल का अपना दल राजभर जाति पर आधारित भारतीय समाज पार्टी आदि इसी तरह की दलबन्दियाँ हैं।

उत्तर प्रदेश के मुखिया मुलायम सिंह यादव ने पिछले साढ़े चार वर्षों में देशी-विदेशी पूँजीपतियों की हिमायत जिस सीनाजोरी के साथ की है और एक राजनीतिक पार्टी और संगठित आपराधिक गिरोह के बीच के फर्क को जिस तरह मिटा दिया है उससे समाज का पढ़ा-लिखा, सुसंस्कृत-कुलीन तबका भले ही नाक-भौं सिकोड़ता फिरे लेकिन इससे मुलायम ब्रिगेड के सत्ता-सुरूर और गुरूर पर कोई फर्क नहीं पड़ता। पूँजीवादी चुनावी नेताओं की आज की जमात की आँखों में अब लाज-हया या सार्वजनिक जीवन की शुचिता का लेशमात्र भी नहीं बचा है। इसीलिए बिल क्लिण्टन के आवभगत में जनता की गाढ़ी कमाई के करोड़ों रुपये पानी की तरह बहा देने, फर्जीवाड़ा कर प्रदेश के ब्राण्ड-अम्बेसडर अमिताभ बच्चन को किसान अमिताभ बच्चन बचाने और लोहिया का नाम जपते हुए समाजवाद की फेरी लगाने में मुलायम सिंह को कोई दुविधा या हिचक नहीं है।

वैसे लोहिया और मुलायम के समाजवाद में कोई बुनियादी फर्क है भी नहीं। जो फर्क है वह मामूली है। लोहिया का "समाजवाद" छोटी पूँजी की हिमायत करने वाला पूँजीवाद था और मुलायम सिंह यादव ने पूँजी की दुनिया के बीच के भेदभाव को मिटाकर समानता कायम कर दी है। एक तरह से लोहिया के आर्थिक चिन्तन की अवैज्ञानिकता और विसंगति को मुलायम सिंह ने अमल के धरातल पर दूर कर दिया है। अब चुनाव नजदीक आने पर उन्होंने समाजवादी चेहरे को चमकाने का जो खेल खुल्लमखुल्ला शुरू किया है वह भी लोहिया के सुपरिचित लोकलुभावन राजनीतिक अन्दाज का मुलायमी संस्करण मात्र है। बेरोज़गारों को पाँच-पाँच सौ रुपये भत्ते का चेक, गरीब औरतों को साड़ी बाँटना, पटरी दुकानदारों का वोट बटोरने के लिए तहबाजारी खत्म करना जैसी घोषणाएँ हर रोज़ की जा रही हैं। बहुजन समाज पार्टी के वोट-बैंक में सेंध मारने की कोशिश में दलित परिवारों की तीन साल की बच्चियों और उनकी माताओं के लिए बीमा पॉलिसी की घोषणा भी मुलायम ने कर दी है। लेकिन आपातकाल के बन्दियों को पाँच सौ रुपये पेंशन देने की घोषणा ने कांग्रेस, बसपा और तीसरे मोर्चे के नेताओं को मुलायम पर यह हमला करने का मौका दे दिया है कि उनकी भाजपा से साँठ-गाँठ है क्योंकि प्रदेश में अगर आपातकाल के बन्दियों की सूची बनेगी तो संघ परिवार से जुड़े लोगों की संख्या ही सबसे अधिक होगी। बाबरी मस्जिद विध्वंस मामले में उच्च न्यायालय में राज्य सरकार द्वारा पेश किये गये हलफनामे को भी निशाना बनाकर इन पार्टियों-मोर्चों के नेता मुलायम को मुस्लिम विरोधी साबित करते हुए उनके वोट-बैंक में सेंध मारने की कवायदें कर रहे हैं। बहन माया वती पुराने सामन्ती वैभव और राजसी ठाठ-बाट की जीवनशैली के घृणास्पद नमूने प्रस्तुत करते हुए भी अपने दलित वोट-बैंक पर आश्वस्त हैं। अब उनकी सारी जोड़-तोड़ मुस्लिम व अन्य पिछड़ी जातियों के वोट-बैंक में सेंध मारने को लेकर है।

प्रदेश में लोकतंत्र के पाँच साला

(पेज 8 पर जारी)

आरक्षण के समर्थन और विरोध में आपस में लड़ने के बजाय

जनमुक्ति संघर्ष की राह पर आगे बढ़ो!

विशेष संवाददाता

देश की मेहनतकश जनता की वर्गीय एकजुटता को तोड़ने के लिए शासक वर्ग लगातार नयी-नयी चालें चलता रहता है। केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह द्वारा मेडिकल, इंजीनियरिंग और मैनेजमेण्ट सहित सभी उच्च शिक्षण संस्थानों में पिछड़ी जातियों के लिए सत्ताइस प्रतिशत आरक्षण का ऐलान ऐसी ही एक चाल है। शासक वर्गों के इन घाघ राजनीतिक नुमाइन्दों को न तो पिछड़ों-दलितों के सामाजिक उत्पीड़न और अपमान से कुछ लेना-देना है और न उनके बड़े हिस्से की आर्थिक तबाही-बर्बादी से। लेकिन इनकी कुटिल चालों में उलझकर मेहनतकश जनता और उसके बेटे-बेटियाँ एक बार फिर जातिगत लाइन पर आपस में बँट गये हैं।

हालाँकि सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बाद आरक्षण विरोधियों और समर्थकों की रैलियों-प्रदर्शनों-हड़तालों का सिलसिला फिलहाल थमा हुआ है लेकिन इस बात की पूरी सम्भावना है कि सरकार द्वारा इस मसले पर गठित वीरप्पा मोइली समिति की सिफारिशें आने के बाद आग फिर भड़के। शासक वर्ग चाहता भी यही है कि समाज में मौजूद जातिगत विद्वेष की आग लगातार सुलगती रहे और रह-रहकर भड़कती भी रहे। केवल तभी देशी-विदेशी पूँजी की बर्बर लूट जारी रह सकती है।

वी.पी. सिंह ने 1990 में मण्डल मसीहा का बाना तब ओढ़ा था जब देश में नयी आर्थिक नीतियों को लागू करने की भूमिका तैयार हो रही थी। उस समय शासक वर्गों के नये हमले से मेहनतकश जनता का ध्यान हटाने के लिए समाज में फैला मण्डल विरोधियों और समर्थकों का जुनून काफी मददगार साबित हुआ था। अब डेढ़ दशक बाद अर्जुन सिंह ने पिछड़ों के मसीहा का बाना ओढ़कर अपने सियासी कमान से जो नया तीर छोड़ा है उसके निशाने पर सिर्फ़ प्रधानमंत्री की कुर्सी ही नहीं है। आज डेढ़ दशक बाद नयी आर्थिक नीतियों के सामाजिक नतीजे सतह पर आ चुके हैं। "रोज़गार विहीन विकास" की मार से और बेरोज़गारी लगातार बढ़ती जा रही है। धनी-गरीब के बीच की खाई बनती जा रही है। इस आधुनिक 'विकास' द्वारा पैदा किये रसातल में जीने वाले मेहनतकशों के नौजवान बेटे-बेटियाँ पूँजीवादी "स्वर्ग" पर धावा न बोल दें इसलिए उनके गुस्से के निशाने को भटकाना शासक वर्गों के लिए जरूरी हो गया है। अर्जुन सिंह की घोषणा ने फिलहाली तौर पर बखूबी यह काम कर दिया है। केवल पूँजीवादी राजनीति की उठापटक में दिलचस्पी रखने वालों के लिए ही यह

(पेज 6 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

करोड़ों बेघरबार लेकिन देश तरक्की के रास्ते पर

वाह रे पूँजीवाद वाह! क्या समानता है! कहीं-कहीं तो एक ही व्यक्ति के पास कई-कई मकान, कई फार्महाउस, कई कॉम्प्लेक्स और कई फाइव स्टार होटल कि साल के 365 दिन भी वो इसी समस्या में गुजार दे कि कब कहाँ ठहरूँ और दूसरी ओर लाखों लोग ऐसे हैं जिन्हें टूटी-फूटी एक छत भी मयस्सर नहीं।

सेण्टर फॉर हाउसिंग राइट्स एण्ड एविक्संस द्वारा जारी ताज़ा रिपोर्ट के अनुसार

- ❖ कुल बेघर लोगों की संख्या–3 करोड़ 20 लाख
- ❖ बदहाल घरों में रहने वाले लोगों की संख्या–15 करोड़ लोगों के 3 करोड़ परिवार
- ❖ झुग्गियों में रहने वाले लोगों की संख्या–10 करोड़ लोगों के 2 करोड़ परिवार

3 करोड़ 20 लाख लोग रुख करते हैं रैन बसेरों की ओर, जहाँ उन्हें 6 रुपये किराये पर पिस्सू से भरे हुए गन्दे बदबूदार चादर और गन्दा शौचालय इस्तेमाल करने को ज़रूर मिल जाते हैं, पर रैन बसेरे भी पर्याप्त संख्या में नहीं हैं। सन 1985 से दिल्ली सरकार के बजट में हर साल 60 लाख रुपये का प्रावधान रैन बसेरों के लिए होता रहा है पर इस मद का अधिकतर पैसा वेतन, प्रशासन और रखरखाव में खर्च हो जाता है।

अब एक ही रास्ता बचता है वो है फुटपाथ! उसमें भी यह खतरा तो बना ही रहता है कि कहीं कोई नया सलमान आपको कुचल न दे, लेकिन उससे भी बड़ी त्रासदी यह है कि आज़ादी के जश्न के लिए हर साल लोग फुटपाथों से खदेड़ दिये जाते हैं। ये साफ कर देता है कि आज़ाद भारत में आज़ाद कौन है। बाकी के दिन भी फुटपाथ पर सोने की जगह मिल जावे, इस पर खतरा मण्डराता रहता है, कभी पुलिस तो कभी दादा लोग फुटपाथ का भी सौदा कर डालते हैं। आखिर कोई जावे तो जावे कहाँ!

–मधूलिका, इलाहाबाद

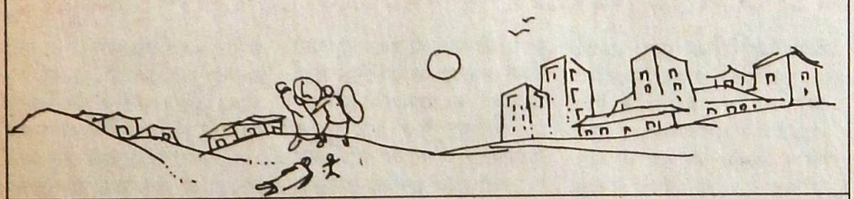

इंसान की कीमत पर सुन्दर बनते शहर

मुनाफाखोरी पर टिकी इस पूँजीवादी व्यवस्था में क्या कोई जगह बची है जहाँ पर आम आदमी एक सुकून की ज़िन्दगी जी सके? अलादीन के चिराग भी ऐसी जगह नहीं दिखा सकते। आज बाज़ार की चकाचौंध ने कम आय वर्ग और गरीबों को हाशिये पर ढकेल दिया है। लोगों की जान की कीमत पर शहरों का सौन्दर्यीकरण किया जा रहा है। क्या यह संवेदनहीनता का चरम नहीं है? लखनऊ तथा अन्य शहरों की स्थिति कमोवेश एक जैसी ही है जहाँ पर अतिक्रमण हटाने के नाम पर गरीबों की ज़िन्दगियाँ उजाड़ी जाती हैं। हर रोज़ इसके विरोध में होने वाले प्रदर्शन-अनशन शहरी ज़िन्दगी का हिस्सा बन चुके हैं। अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते जब किसी गरीब की मौत हो जाती है तो राजनीतिक गिद्ध इन लाशों पर सियासत करने लगते हैं ताकि चुनावों में अपनी तक़दीर चमका सकें।

हालिया एक घटना लखनऊ में हुई जिसमें एक पटरी दुकानदार की मौत के बाद पुलिस और एक राजनीतिक पार्टी के कार्यकर्ताओं में उस लाश की छीना-झपटी शुरू हुई। इन्सानियत तो क्या लाश की मर्यादा तक शर्मसार हो गयी। अफसर अपनी खाल बचाने की फिराक में और नेता इस पर सियासत करने के लिए छीना-झपटी कर रहे थे। यह खबर एक बुर्जुआ अखबार ने फोटो के साथ छापी।

जिस इंसान के सीने में भी धड़कता दिल होगा उसे इंसानी ज़िन्दगी की इस हृदयविदारक तस्वीर ने बेचैन कर दिया होगा। लेकिन क्या हम बेदिल हुक्मरानों से रत्ती भर भी पसीजने की उम्मीद पाल सकते हैं। कत्तई नहीं। संवेदनशील लोगों को ही आगे आना होगा।

–चन्द्रप्रकाश, लखनऊ

राहुल फाउण्डेशन के कुछ महत्वपूर्ण नये प्रकाशन

1. साहित्य और कला	–मार्क्स-एंगेल्स	150.00
2. फ्रांस में वर्ग-संघर्ष	–कार्ल मार्क्स	40.00
3. फ्रांस में गृहयुद्ध	–कार्ल मार्क्स	20.00
4. लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर	–कार्ल मार्क्स	35.00
5. उजरती श्रम और पूँजी	–कार्ल मार्क्स	10.00
6. मज़दूरी, दाम और मुनाफ़ा	–कार्ल मार्क्स	15.00
7. गोथा कार्यक्रम की आलोचना	–कार्ल मार्क्स	10.00
8. लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त	–फ्रेडरिक एंगेल्स	30.00
9. जर्मनी में क्रान्ति तथा प्रतिक्रान्ति	–फ्रेडरिक एंगेल्स	30.00
10. पार्टी कार्य के बारे में	–लेनिन	15.00
11. एक क़दम आगे दो क़दम पीछे	–लेनिन	60.00
12. जनवादी क्रान्ति में सामाजिक-जनवाद की दो रणकौशल	–लेनिन	25.00
13. जुझारू भौतिकवाद	–प्लेख़ानोव	35.00
14. लेनिन के जीवन के चन्द पन्ने	–लीदिया फ़ातियेवा	50.00
15. मार्क्सवाद क्या है	–एमिल वर्न्स	20.00
16. फाँसी के तख्ते से	–जूलियस फ्यूचिक	30.00
17. पाप और विज्ञान	–डायसन कार्टर	60.00
18. सापेक्षिकता सिद्धान्त क्या है?	–लेव लन्दाऊ, यूरी रूमेर	25.00

सभी पुस्तकों के लिए सम्पर्क करें : जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ, फोन : 2786782

शिड्यूल

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र ।

समाचार पत्र का नाम	नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	मासिक
पत्र का खुदरा बिक्री मूल्य	तीन रुपये
प्रकाशक का नाम	डॉ. दूधनाथ
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
प्रकाशन का स्थान	निशातगंज, लखनऊ
मुद्रक का नाम	डॉ. दूधनाथ
पता	69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
मुद्रणालय का नाम	वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ
सम्पादक का नाम	डॉ. दूधनाथ
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज लखनऊ
स्वामी का नाम	डॉ. दूधनाथ
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं दूधनाथ, यह घोषणा करता हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य है।

हस्ताक्षर

(दूधनाथ)

प्रादेशिक मुद्रक, स्वामी

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आवादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आंदोलन के इतिहास और सबक से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

'बिगुल'

सम्पादकीय कार्यालय	:	69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
सम्पादकीय उप कार्यालय	:	जनगण हॉम्यो सेवासदन मर्यादपुर, मऊ
दिल्ली सम्पर्क	:	289-सी, श्रमिक कुंज, सेक्टर-66, नोएडा

मूल्य - एक प्रति -रु. 3/-
वार्षिक - रु. 40.00 (डाक व्यय सहित)

'बिगुल'

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध

1. डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
2. जनचेतना स्टाल, काफी हाउस बिल्डिंग, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 4:00 से 7:00 बजे तक)
3. जाफ़रा बाजार, गोरखपुर -273001

मेहनतकश साथियों के लिए कुछ जरूरी पुस्तकें

- कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढाँचा- लेनिन 5/-
- मकड़ा और मक्खी- विल्हेल्म लीब्कनेख्त 3/-
- ट्रेड यूनियन काम के जनवादी तरीके- सर्जो रोस्तोवस्की 3/-
- अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएँ 10/-
- समाजवाद की समस्याएँ, पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति 12/-
- क्यों माओवाद? 10/-
- मई दिवस का इतिहास 5/-
- अक्टूबर क्रान्ति की मशाल 12/-
- पेरिस कम्यून की अमर कहानी 10/-
- बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में 5/-

बिगुल विक्रेता साथी से माँगें या इस पते पर 17 रुपये रजिस्ट्री शुल्क जोड़कर मनीआर्डर भेजें :

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ

नक्सली हिंसा से निपटने के नाम पर जनता के दमन के लिए काला कानून

छत्तीसगढ़ विशेष सुरक्षा अधिनियम 2005

विशेष संवाददाता

दिल्ली। छत्तीसगढ़ की भाजपा सरकार ने नक्सली हिंसा से जनता की सुरक्षा के नाम पर एक घोर दमनकारी कानून से खुद को लैस कर लिया है। छत्तीसगढ़ विशेष जनसुरक्षा अधिनियम 2005 नामक इस कानून के प्रावधान इतने खतरनाक हैं कि हक़ और इंसाफ़ की आवाज़ उठाने वाला कोई भी व्यक्ति या समूह इसकी जद में समा जायेगा।

इस कानून के प्रावधानों पर एक सरसरी नज़र डालने पर ही रमन सिंह सरकार के असली मंसूबे उजागर हो जाते हैं। नक्सली हिंसा बहाना है। असल में जनता ही इसका निशाना है। खनिज सम्पदा के अकूत भण्डार और धान की व्यापक पैदावार वाले इस नवगठित राज्य के आम मज़दूर-किसान और आदिवासी जनसमुदाय अपनी तबाही-बर्बादी के खिलाफ़ इज्जत और आज़ादी की ज़िन्दगी के लिए आवाज़ तक न उठा सकें, इस कानून के पीछे यही सरकारी मंसूबा छिपा हुआ है।

इस अधिनियम के तहत गैरकानूनी गतिविधि की जो गोलमाल परिभाषा दी गयी है उसके तरह पुलिस और जिला स्तर तक के अधिकारियों को इतने बेलगाम अधिकार मिल गये हैं कि वे जनता की सुरक्षा के नाम पर मनमाने ढंग से बिना कारण बताये गिरफ्तार कर सकते हैं और कम से कम एक साल के लिए जेल की सींखचों से प्रताड़ित करने के अधिकार भी उन्हें मिल गये हैं।

इस कानून की चपेट में लेने के लिए पुलिस को किसी नक्सली संगठन का सदस्य होने या संगठन की किसी गतिविधि में शामिल होने का प्रमाण प्रस्तुत करना ज़रूरी नहीं है। अगर पुलिस को शक है कि कोई व्यक्ति किसी नक्सली संगठन का किसी भी प्रकार का "सहयोग" देता है तो पुलिस उसे गिरफ्तार कर उसके खिलाफ़ कार्रवाई कर सकती है। "सहयोग" को भी ठोस रूप में परिभाषित नहीं किया गया है।

इस कानून के चपेट में तमाम नागरिक एवं जनतांत्रिक अधिकार संगठन और मीडियाकर्मी भी आ गये हैं। कानून का एक प्रावधान स्पष्टतः कहता है–कि वह कार्य विधिविरुद्ध है "जो व्यक्ति अथवा संगठन द्वारा किया जावे, भले ही उस कार्य को घटित करके या कहे गये, लिखे गये शब्दों द्वारा या संकेतों द्वारा या दृश्य प्रस्तुतीकरण द्वारा या अन्यथा"–"जो सार्वजनिक व्यवस्था, शान्ति या लोक प्रशान्ति को खतरा या भय उत्पन्न करता हो, या" "जो सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने में बाधक है या जिसकी प्रवृत्ति सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने में बाधा डालने की हो" आदि।

स्पष्ट है कि ऐसी हर कार्रवाई जो सरकार या जिला-पुलिस को नागवार गुज़रे वह गैरकानूनी है। सरकारी मंशा स्पष्ट है कि जनता को सरकार के हर नीति-अनीति के सामने जुबान बन्द कर, सिर झुकाकर रोमन साम्राज्य के गुलामों की तरह गुजर-बसर करना चाहिए, वर्ना खैर नहीं। प्रिण्ट और इलेक्ट्रानिक मीडिया कर्मी भी अगर सरकार द्वारा गैरकानूनी घोषित किसी संगठन या व्यक्तियों के बारे में कोई रिपोर्ट लिखते या वीडियो फिल्म तैयार करते हैं तो उन्हें भी इस कानून के तहत सजा दी जा सकती है। अगर कोई जनतांत्रिक या नागरिक अधिकार संगठन भी "गैरकानूनी" गतिविधि वाले किसी संगठन या व्यक्ति की पैरवी करती है या सरकारी दमन को उजागर करता है तो उसकी भी खैर नहीं।

इस कानून के तहत "गैरकानूनी" गतिविधि में शामिल किसी संगठन या व्यक्ति से जुड़े किसी स्थान या अन्य किसी भी प्रकार की सम्पत्ति को जब्त करने का मनमाना अधिकार भी मिल गया है। इतना ही इस कानून को लागू करने में पुलिस या प्रशासन के किसी अधिकारी द्वारा अगर कोई मनमानापन या चूक उजागर भी होती है तो सम्बन्धित अधिकारी के खिलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की जा की कार्रवाई 'सद्भावपूर्ण' की गयी कार्रवाई मानी जायेगी।

इस कानून के तहत परिभाषित सभी "अपराध" संज्ञेय और गैरजमानती होंगे और ऐसे अपराधों की विवेचना निरीक्षक स्तर का कोई भी पुलिस अधिकारी कर सकता है। इस कानून के अमल में किसी गड़बड़ी के खिलाफ़ कोई संगठन या व्यक्ति कोई शिकायत करना चाहे तो उसके लिए महज यह प्रावधान किया गया है कि वह एक विशेष रूप से गठित सलाहकार बोर्ड में जा सकता है। इस तीन सदस्यीय बोर्ड के सदस्य उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त जज होंगे जिनकी नियुक्ति भी सरकार ही करेगी। यानी, 'बने हैं अहले हवस मुद्दई भी, मुंसिफ़ भी, किसे वक़ील करें किससे मुंसिफी चाहें।"

प्रदेश में नक्सली हिंसा से निपटने के नाम पर शुरू हुए इस कानूनी वज्रपात के अलावा विधानसभा में प्रतिपक्ष के नेता महेन्द्र सिंह कर्मा की अगुवाई में 'सलवा जुडूम' नामक जो तथाकथित जनान्दोलन बरपा हो रहा है। सरकार भी इस तथाकथित नक्सल विरोधी जनमुहिम को खुली शह और मदद दे रही है। इस मुहिम के तहत नक्सलवादियों से बचाने के नाम पर आदिवासियों को उनके गाँवों से खदेडकर राहत शिविरों में बसाया जा किशोरों के हाथों में हथियार पकड़ाकर उन्हें अपराधी बनाया जा रहा है। एक स्वतंत्र नागरिक जाँच दल ने मई के आख़िरी हफ्ते में छत्तीसगढ़ के दँतेवाड़ा जिले का दौरा करने के बाद अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि यहाँ सलवा जुडूम के तहत व्यापक पैमाने पर मानवाधिकारों के उल्लंघन, हत्या, आगजनी और महिलाओं के ऊपर हमले (जिनमें सामूहिक बलात्कार भी शामिल है) हो रहे हैं। लापता लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। इस स्वतंत्र नागरिक जाँच दल में हिन्दुस्तान टाइम्स व इण्डियन एक्सप्रेस के पूर्व सम्पादक बी.जी. वर्गीज, समाज विज्ञान की प्राध्यापिका डॉ. नन्दिनी सुन्दर, भारत सरकार के पूर्व सचिव ई एस सरमा, लेखिका फराह नक़वी और प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. रामचन्द्र गुहा आदि शामिल थे।

छत्तीसगढ़ विशेष सुरक्षा जन अधिनियम 2005 के सरकारी गजट में प्रकाशित होने के साथ ही विगत 29 अप्रैल को एक छात्रा सहित दो लोगों को उनके घरों से गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। ग्यारहवीं कक्षा की छात्रा 22 वर्षीया चन्द्रकान्ती टोंघे और उमेश गुप्ता पर आरोप मढ़ा गया कि वे नक्सलियों को पनाह देते व उनकी सहायता करते हैं। चन्द्रकान्ती के घर से तथाकथित नक्सली साहित्य की बरामदगी भी दिखा दी गयी और उमेश गुप्ता की मोटरसाइकिल जब्त कर ली गयी।

छत्तीसगढ़ की गरीब मेहनतकश जनता एक ओर रमन सिंह सरकार की घोर पूँजीपरस्त नीतियों से तबाह-बर्बाद हो रही है, अपनी रोज़ी-रोटी और प्राकृतिक सम्पदा के उपयोग के अधिकार से वंचित होकर जीने के अधिकार से ही वंचित होती जा रही हैं, वहीं कानून के राज के नाम पर गुलाम प्रथा के दिनों का जंगलराज भी कायम कर दिया गया है। 'सलवा जुडूम' नामक तथाकथित नक्सल विरोधी जनान्दोलन भी कोढ़

छत्तीसगढ़ की गरीब मेहनतकश जनता को पूँजी के शासन के आधुनिक गुलामों में तब्दील करने की ये कोशिशें बेरोकटोक जारी नहीं रह सकतीं। जब आधुनिक स्पार्टकसों की बगावतों के नये सिलसिले देशव्यापी स्तर पर शुरू होंगे तब पूँजी के आधुनिक साम्राज्य की नींवे चरमरा उठेंगी। यही इतिहास की गति है और रमन सिंह–महेन्द्र कर्मा जैसे शासक वर्गों के राजनीतिक नुमाइन्दों की कवायदें तब धरी की धरी रह जायेंगी।

फिलिस्तीन में सभी हदों को पार कर चुकी इस्रायली बर्बरता

फिलिस्तीन में इजरायली दखलन्दाजी सभी हदों को पार कर गयी है और मानवाधिकारों के नाम पर दुनिया भर में ताण्डव मचाने वाला अमेरिका इससे मुँह मोड़ बैठा हुआ है। इस्रायल ने फिलिस्तीनियों को न सिर्फ़ उनकी जमीन से बेदखल कर रखा है बल्कि वह ताकत के ज़ोर पर फिलिस्तीन जनता को लगातार अपमान, दहशत और जिल्लत की ज़िन्दगी जीने पर भी मजबूर करता रहा है। ऐसा कोई फिलिस्तीनी परिवार नहीं होगा जिसके एक या अधिक सदस्यों को इस्रायलियों ने मौत के घाट न उतारा हो। और इस्रायली हुकूमत लगातार ऐसी नृशंस कार्रवाइयाँ किये जा रही है। यह घोर मानवताद्रोही और प्रतिक्रियावादी ताकत फिलिस्तीनी लोगों के जान-माल की रत्तीभर भी परवाह नहीं करती। और दुनिया का चौधरी होने का दम भरने वाली शक्तियाँ इन कुकर्मों की बेहयाई के साथ उपेक्षा करती हैं।

फिलिस्तीन में इस्रायली दमन का लम्बा इतिहास रहा है। पिछले दिनों की घटनाएँ इसी शृंखला की नयी कड़ियाँ हैं। यदि यह माना जाये कि जून-जुलाई में फिलिस्तीन में इस्रायली कार्रवाई एक बन्धक इस्रायली सैनिक को छुड़ाने के लिए की गयी तो फिलिस्तीन ऊर्जा संयंत्र पर की गयी इस्रायली सैनिक कार्रवाई का क्या औचित्य था, वह भी तब जब वह संयंत्र 42 प्रतिशत फिलिस्तीन जनता को विद्युत मुहैया कराता था। यह बहाना गाजापट्टी में इस्रायली आक्रमण का आधार तो नहीं हो सकता और न ही सीरिया के राष्ट्रपति के निवास पर इस्रायली वायुसेना के विमानों के धमकी भरे अन्दाज में मँडराने का ही कारण हो सकता है।

वास्तव में यह इस्रायल द्वारा फिलिस्तीनी इलाके को तबाह-बर्बाद करने के एक बहाने के अलावा और कुछ नहीं है। अमेरिकी प्रतिक्रिया ऐसे मसलों पर इस्रायल के पास 'अपनी सुरक्षा का अधिकार' होने से ज्यादा कुछ नहीं होती जबकि फिलिस्तीनियों के इसी अधिकार के मामले में वह कुछ बोलने की जरूरत नहीं समझता।

वास्तव में पूँजीवादी सेना का एक सैनिक चाहे वह दुश्मन का बन्धक हो या न हो एक मोहरे से ज्यादा कुछ नहीं होता। पूँजीवादी व्यवस्था उसे अपनी आवश्यकतानुसार बलि चढ़ाने के लिए खिलाती-पिलाती है।

गाजापट्टी में इस्रायल जो कह रहा है सच्चाई उससे काफ़ी अलग है। पिछले वर्ष गाजापट्टी से इस्रायली सेना का पीछे हटना एक झाँसा ही था। उसने सीमाओं के साथ-साथ इस क्षेत्र के आकाश पर भी नियंत्रण बनाये रखा। इसके साथ ही गाजापट्टी और पश्चिमी तट में उसको आवाजाही की आज़ादी थी। 28 जून 2006 को फिलिस्तीन की जनता द्वारा चुने गये फिलिस्तीनी प्रतिनिधियों की गिरफ्तारी यह बताती है कि स्वतंत्र फिलिस्तीन जिसका इस्रायल द्वारा प्रचार किया जाता है वास्तव में एक धोखा है। और यही कारण है कि इस्रायली सैनिक को बन्धक बनाये जाने को फिलिस्तीनियों का समर्थन प्राप्त है। खुद इस्रायल की जेलों में हजारों फिलिस्तीनी कैद हैं, और इस्रायल द्वारा बड़ी संख्या में आम फिलिस्तीनी नागरिकों की हत्या लगातार जारी है।

भगवान के नाम पर मौत का ताण्डव रचने वाली साम्राज्यवादी ताकतें मध्य-पूर्व के राजनीतिक भूगोल को अपनी मर्जी से बदल रही हैं। और ऐसा वे अपने ही घोषित उसूलों के खिलाफ़ कर रही हैं। हत्या, उत्पीड़न और दहशतगर्दी को लेकर उन्हें कोई पश्चाताप नहीं है। इन देशों में रहने वाले लोगों के साथ ही पूरे विश्व के लोगों का फर्ज बनता है कि इन आपराधिक शक्तियों के खिलाफ़ एकजुट होकर सामने आयें। फिलिस्तीनी जनता ने तमाम कुर्बानियाँ देकर भी अपने संघर्ष को ज़िन्दा रखा है और बर्बर शक्तियों के आगे वह सीना तान कर खड़ी है। उनके इस संघर्ष में दुनिया का मेहनतकश वर्ग उनके साथ खड़ा है। यह भी मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का ही एक बेहद घिनौना रूप है और एक नये समाज के निर्माण के द्वारा ही इससे मुक्ति पायी जा सकती है।

–कामता

गरीबों के भोजन के अधिकार पर सीधा हमला

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह देश को जल्दी ही महाशक्ति बना देने की बात करते थकते नहीं हैं। चारों ओर भारत की "जबर्दस्त" आर्थिक प्रगति के चर्चे हैं। बेशक पूँजीपतियों, नेताओं, नौकरशाहों और खाते-पीते मध्यवर्ग के लिए प्रगति के इस कल्पवृक्ष से फलों की बौछार हो रही है। लेकिन इस प्रगति में देश के करोड़ों गरीबों के लिए कोई जगह नहीं है।

देश के महानगरों में इटैलियन, फ्रांसीसी, चाइनीज से लेकर जापानी और थाई रेस्टोरेण्ट खुलते चले जा रहे हैं, मैकडोनाल्ड के बर्गर और पिज्जा हट की पिज्जा छोटे-छोटे शहरों तक में बिकने लगे हैं; लेकिन गरीब आबादी से जीने के लिए जरूरी बुनियादी भोजन का हक भी छीना जा रहा है।

कृषिमंत्री शरद पवार के अधीन खाद्य एवं सार्वजनिक वितरण विभाग ने कई ऐसे प्रस्ताव रखे हैं जो भोजन के अधिकार पर सीधा हमला हैं। इनमें राज्यों को गेहूँ के कोटे में कटौती, गेहूँ की जगह मोटे अनाज का आवंटन, सम्पूर्ण ग्रामीण रोज़गार योजना के तहत मज़दूरी के एक भाग के रूप में गेहूँ में कमी करना, सूखाग्रस्त क्षेत्रों के लिए कोटे में कमी करना, गरीबी रेखा से नीचे और ऊपर दोनों प्रकार के राशन कार्डधारकों के लिए गेहूँ के दामों में बढ़ोत्तरी, एपीएल और बीपीएल दोनों के लिए गेहूँ के कोटे में 5 किलो की कमी शामिल है।

भारत में पिछले दस वर्ष से लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली चल रही है। पिछले साल खुद योजना आयोग के आकलन के अनुसार 57 प्रतिशत गरीबों को बीपीएल स्कीम से बाहर रखा गया है। इतना ही नहीं, गरीबों की पहचान करने का सरकारी तरीका इतना भयंकर है कि करोड़ों गरीब तो "गरीब" माने ही नहीं जाते। गरीबी रेखा तय करने का मौजूदा पैमाना यह है कि कोई व्यक्ति एक न्यूनतम मात्रा में कैलोरी ग्रहण करने के लिए भोजन पर कितना खर्च करता है और कपड़ा, आवास तथा यातायात आदि पर न्यूनतम कितना खर्च करता है। यह 1993 की लकड़ावाला समिति द्वारा सुझाये गये तरीके तथा मार्च 2000 में भारत के रजिस्ट्रार जनरल द्वारा दिये गये जनसंख्या के आंकड़ों पर आधारित है। इसके मुताबिक आज 11 रुपये प्रतिदिन या 330 रुपये प्रतिमाह की आमदनी वाला व्यक्ति ही गरीब है उससे ऊपर वाला नहीं! जाहिर है, यह गरीबी रेखा नहीं, भुखमरी की रेखा है।

मौजूदा अनुमान के मुताबिक देश में छह करोड़ परिवार बीपीएल श्रेणी में आते हैं। इतनी भारी संख्या में ऐसे लोग हैं जो 330 रुपये प्रति माह से कम पर जी रहे हैं, यही सच्चाई क्या कम भयंकर है! लेकिन इससे भी क्रूर बात यह है कि इस गुजारे के लिए भी नाकाफी आय से ऊपर कुछ भी कमाने वाले व्यक्ति को गरीबी रेखा से ऊपर माना जाता है और सस्ता अनाज पाने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है। "गरीबी रेखा से ऊपर"—ये शब्द सच्चाई से ध्यान भटकाते हैं क्योंकि इसमें गरीबों की एक बहुत बड़ी आबादी भी शामिल है जिसे आँकड़ों की धोखाधड़ी और बाजीगरी के जरिए उनके हक से वंचित कर दिया गया है। आँकड़ों के खेल की एक और बानगी देखें। पिछले कई वर्षों के दौरान एपीएल कार्डों पर गेहूँ की खरीद कम रही क्योंकि राशन और बाजार के दामों में ज्यादा अन्तर नहीं था। लेकिन अब जबकि बाजार में गेहूँ के दामों में भारी बढ़ोत्तरी हुई है तो एपीएल पर अनाज की माँग बढ़ेगी। मगर सरकार पिछले वर्षों में कम खरीद के आँकड़े पेश करते हुए एपीएल पर गेहूँ का कोटा कम ही करने जा रही है, ठीक उसी समय जब लोगों को उसकी सबसे ज्यादा जरूरत है।

भाजपा के नेतृत्व वाली राजग सरकार के दौरान एफसीआई के गोदामों में छह करोड़ टन अनाज सड़ रहा था जबकि देश के कई इलाकों में भूख से मौतें हो रही थीं। पिछले एक वर्ष के दौरान यूपीए सरकार ने खाद्यान्नों के मामलों में जो नीतियाँ अपनायी हैं उनके कारण गेहूँ के भण्डार तेजी से खत्म हो रहे हैं, दाम बेतहाशा बढ़े हैं और महंगी दरों पर विदेशों से गेहूँ से आयात तक करना पड़ा है। निर्यात केन्द्रित नकदी फसलों पर जोर बढ़ने के कारण गेहूँ की खेती का रकबा कम होता गया है। दूसरी ओर अनाजों में वायदा-कारोबार को बढ़ावा देने तथा कृषि उपज कानून में व्यापारियों के पक्ष में किये गये फेरबदल के चलते जमाखोरी को खुली छूट मिल गयी है।

इस सबका खामियाजा गरीब मेहनतकश आबादी को उठाना पड़ रहा है। खाते-पीते मध्यवर्गीय परिवार में आमदनी का मुश्किल से 15 प्रतिशत खाने-पीने की बुनियादी जरूरतों पर घर खर्च होता है लेकिन गरीबों की आमदनी का तो आधा से ज्यादा हिस्सा पेट भरने पर ही खर्च हो जाता है। ऐसे में अनाज की कीमतों में बढ़ोत्तरी का मतलब है कि हर गरीब अपना और बच्चों का पेट काटकर ही जीवन की दूसरी न्यूनतम जरूरतें पूरी कर सकेगा।

देश की जनता के बहुत बड़े हिस्से को भोजन के अधिकार से वंचित रखने का नतीजा कुपोषण में भारी वृद्धि, बच्चों के शारीरिक विकास में कमी, बीमारी और निरन्तर थकान के रूप में सामने आया है। अपने नागरिकों को खाद्य सुरक्षा देने के लिहाज़ से अगर देशों को नम्बर दिये जाएँ तो भारत सबसे निचले पायदानों पर, इण्डियोपिया जैसे देशों के साथ नजर आयेगा। संयुक्त राष्ट्र बाल कोष (यूनीसेफ) की रिपोर्ट के मुताबिक भारत में हर दो में से एक बच्चा कुपोषण का शिकार है। करीब पुराने सरकारी आँकड़े के हिसाब से भारत में एक दशक में रोज़ दस हजार बच्चे कुपोषण और इसके कारण होने वाली अनेक बीमारियों से मरते हैं। आज यह आँकड़ा कहीं अधिक होगा।

दूसरी ओर, दूसरों की मेहनत पर जीने वाला 20 प्रतिशत परजीवी तबका दिनों-रात देशी-विदेशी व्यंजनों को छकते-छकते अगाह नहीं रहा है। ऐसे बर्बर सामाजिक ढाँचे को जितनी जल्दी तबाह कर दिया जाये उतना ही अच्छा है!

- विश्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार, कुपोषण के कारण कम वजन वाले बच्चों की सबसे बड़ी संख्या में है—उप-सहारा के बेहद गरीब देशों में ऐसे बच्चों की कुल संख्या से दोगुना।
- अनुमान है कि बच्चों की कुल मौतों के आधे से अधिक कुपोषण के कारण होती हैं। मलेरिया (57 प्रतिशत), डायरिया (61 प्रतिशत), निमोनिया (52 प्रतिशत) और खसरा (45 प्रतिशत) से होने वाली बच्चों की मौतों में भी ज्यादातर का कारण कुपोषण ही होता है।
- राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण के अनुसार तीन वर्ष के कम उम्र के 47 प्रतिशत बच्चे सामान्य से कम वजन के थे।
- बच्चों का कुपोषण बालिगों के कुपोषण देहातों की गरीबी और छोटी खेती की दुर्दशा से जुड़ा हुआ है।
- अब शहरों के इर्द-गिर्द गरीबों की बस्तियों के फैलने के साथ शहरी इलाकों में कुपोषित बच्चों की संख्या में भारी इज़ाफा हुआ है। इन इलाकों में कुपोषण के साथ ज़िन्दगी के नारकीय हालात, भयंकर गन्दगी आदि के कारण बच्चों का स्वास्थ्य और भी बुरी तरह प्रभावित होता है।

आज भी रिक्शावालों को जानवर समझा जाता है!

दिल्ली में लाइसेंस के लिए रिक्शावालों की जाँच करता है पशु चिकित्सक!!

"अगर आज़ादी का मतलब महज गोरे अंग्रेजों की जगह काले अंग्रेजों का आना है, लार्ड रीडिंग और लार्ड इरविन की जगह महज सेठ पुरषोत्तम दास का आना है तो देश की जनता के लिए इस आज़ादी का कोई मतलब नहीं होगा।" शहीदेआजम भगतसिंह की यह बात देश के आज़ाद होने के उनसठ साल बाद भी एकदम सच है। 1947 में जो सत्ता परिवर्तन हुआ उसमें गोरे अंग्रेज तो चले गये और उनके जूनियर पार्टनर काले अंग्रेजों ने गद्दी सम्भाल ली। इन काले अंग्रेजों का केवल चेहरा अलग था लेकिन चाल-चरित्र वही था जो अंग्रेजों का था। यहाँ तक कि ज्यादातर कानून तो अंग्रेजी शासन के ज्यों के त्यों उठा कर लागू कर दिये गये। ऐसा ही एक गैरइंसानी, हद दर्जे का अमानवीय कानून दिल्ली नगरनिगम (एमसीडी) का है। इस कानून के तहत रिक्शा चलाने के लिए लाइसेंस लेने वाले व्यक्ति की मेडिकल जाँच आज भी पशु चिकित्सक से कराने का नियम है!

रिक्शा चलाने के लिए लाइसेंस लेने वाले व्यक्ति को अपने स्वस्थ होने की जाँच किसी पशु चिकित्सक से करवानी पड़ती है। क्या यह एक भद्दा मजाक नहीं है? क्या रिक्शा चलाने वाले इंसान नहीं होते जो उनके स्वस्थ होने का प्रमाणपत्र पशु चिकित्सक जारी करता है। जी हाँ, यह व्यवस्था मेहनत-मशक्कत करने वाले, जाँगर खटाने वाले गरीबों को इसी नजर से देखती है। वजह, बहुत साफ है।

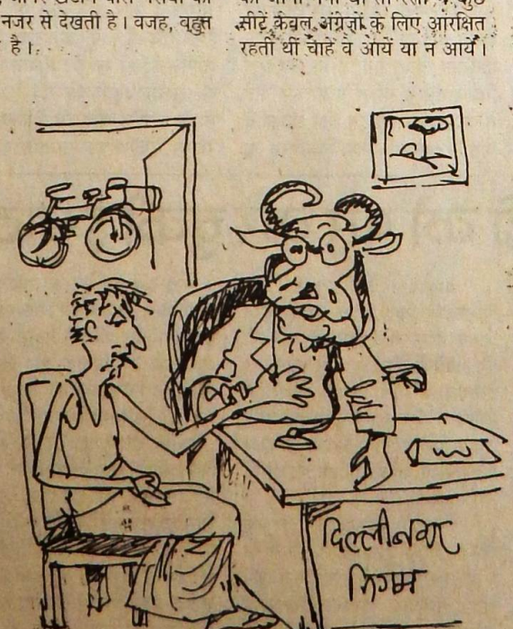

जाहिर सी बात है कि पशु चिकित्सक किसी व्यक्ति की जाँच नहीं कर सकता। लेकिन अंग्रेजों के जमाने से चले आ रहे इस कानून के पीछे अंग्रेजों की वही मानसिकता काम कर रही होगी जिसके अन्तर्गत कुछ जगहों पर कुत्तों और भारतीयों का जाना मना था तो रेलों में कुछ सीटें केवल अंग्रेजों के लिए आरक्षित रहती थीं चाहे वे ओंयें या न आयें। इसी तरह के अपमानजनक व्यवहार से आहत होकर भारतीय जनता ने उस समय एकजुट होकर संघर्ष किया था जिसका परिणाम 1947 की आधी-अधूरी आज़ादी के रूप में मिला। लेकिन इस तरह के कानून अगर आज भी लागू हैं तो इस व्यवस्था के बारे में काफी चीजें साफ हो जाती हैं।

आज भी हमारे देश में ढेरों ऐसे कानून हैं जो अंग्रेजों के शासनकाल से ज्यों के त्यों उठा कर लागू कर दिये गये हैं। इनमें से कई कानून तो 19वीं शताब्दी के हैं। भारतीय दण्ड संहिता (आईपीसी), अपराध प्रक्रिया संहिता (सीआरपीसी), जेल मैन्युअल से लेकर डाकतार और ट्रेड यूनियनों तक से सम्बन्धित कानून अंग्रेजों के जमाने से चले आ रहे हैं। ये कानून अंग्रेज़ों ने अपनी घृणित मानसिकता के साथ भारतीय गुलाम जनता के लिए बनाये थे। जिसमें किसी तरह के मानवीय या जनवादी अधिकारों का कोई सवाल ही नहीं था।

लेकिन अगर एक आज़ाद देश के शासक भी अपनी जनता के लिए ऐसे ही कानूनों को जरूरी समझते हैं तो इससे उनका असली चेहरा पहचाना जा सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था को अपनी मजबूरियों के चलते या अपना मुखौटा बचाये रखने के लिए हर जगह कुछ अधिकार देने पड़े हैं। लेकिन हमारे देश में आज भी कई कानून ऐसे हैं जो अमानवीय तो हैं ही आज की पूरी सभ्यता की श्रेष्ठता की पोल खोल कर रख देते हैं। एमसीडी, दिल्ली का रिक्शाचालकों की मेडिकल जाँच पशु चिकित्सक से कराने वाला नियम तो मात्र एक उदाहरण है। इस तरह के कई नियम कानून इस व्यवस्था में आम आदमी के ऊपर लादे हुए हैं जो यह सोचने पर मजबूर कर देते हैं कि इनका पालन इंसानों से करवाना है या जानवरों से!

गरीबों के लिए रात-दिन एक करने का दावा करने वाली सारी सरकारें चाहे वे किसी भी दल की हों, इन कानूनों को ज्यों का त्यों लागू करती आ रही हैं। इस तरह के नियम कानून इस व्यवस्था के खूबसूरती नकली चेहरे को झटके से अलग करके इसका बदसूरत असली चेहरा सामने ले आते हैं। ये नियम कानून यह भी साफ कर देते हैं कि शासक वर्ग किस प्रकार सबसे उत्पीड़ित वर्ग को अपने जुल्म तले पीसते हैं। उनके सारी लच्छेदार बातें, खूबसूरत जुमले हवा हो जाते हैं जब आम आदमी पर इन नियम कानूनों की मार पड़ती है। इससे पूँजीवादी व्यवस्था का वह नजरिया सामने आ जाता है जिसमें मुनाफा केन्द्र में होता है, इंसान नहीं। लेकिन इन निष्ठुर कानूनों की आड़ में रोज़-रोज़ अपमान का दंश झेल रहा आम आदमी क्या यूँ ही हमेशा सहता जाएगा। क्या लूट और अन्याय पर टिकी इस व्यवस्था का झूठ फरेब और जुल्म ऐसे ही चलता रहेगा। निश्चित ही नहीं।

—कपिल

''बोझ से छुटकारा पाकर मशीनरी को चालू करो!''

— माओ त्से-तुङ

नई जीतें हासिल करने के लिए हमें अपनी पार्टी के कार्यकर्ताओं का आह्वान करना चाहिए कि वे बोझ से छुटकारा पाकर मशीनरी को चालू करें। "बोझ से छुटकारा पाने" का अर्थ है अपने दिमाग को बहुत-सी बाधाओं से मुक्त करना। बहुत-सी चीजें हमारे दिमाग को बोझ अथवा हमारे रास्ते की बाधाएँ बन जाती हैं, यदि हम अपनी आँखें बन्द करके और उनके गुण-दोष का विवेचन किए बिना उनसे चिपके रहते हैं। कुछ उदाहरण ले लीजिए। गलतियाँ करने के बाद आपके मन में यह ख्याल आ सकता है कि चाहे कैसी भी परिस्थिति क्यों न आ जाए, आपका दामन इन गलतियों के साथ हमेशा बँधा रहेगा, तथा इसलिए आप मायूसी का शिकार हो सकते हैं; अगर आपने गलतियाँ न की हों, तो आपके मन में यह ख्याल आ सकता है कि आप गलतियों से परे हैं, और इस तरह आपके अन्दर घमण्ड पैदा हो सकता है। काम में उपलब्धियाँ प्राप्त न होने से निराशा और पस्तहिम्मती पैदा हो सकती है, जबकि उपलब्धियाँ प्राप्त होने से घमण्ड होने और शेखी बघारने की स्थिति पैदा हो सकती है। जिन साथियों को ज्यादा लम्बे संघर्ष का अनुभव नहीं, वे इसके कारण जिम्मेदारियाँ उठाने से कतरा सकते हैं, जबकि पुराना अनुभव रखने वाले साथी अपने संघर्ष के दीर्घकालीन अनुभव के क़ारण घमण्ड में चूर हो सकते हैं। मज़दूर व किसान साथी अपनी वर्ग-उत्पत्ति के घमण्ड में बुद्धिजीवियों को अपने से नीचा समझ सकते हैं, जबकि बुद्धिजीवी लोग अपने कुछ न कुछ ज्ञान के कारण मज़दूर व किसान साथियों को अपने से नीचा समझ सकते हैं। किसी भी विशेष हुनर के कारण अहंकार की प्रवृत्ति और दूसरों को तुच्छ समझने की प्रवृत्ति पैदा हो सकती है। यहाँ तक कि उम्र भी घमण्ड का कारण बन सकती है। हो सकता है कि नौजवान लोग अपनी स्फूर्ति और क्षमता के कारण बुजुर्गों को तुच्छ समझें; दूसरी तरफ यह भी हो सकता है कि बुजुर्ग लोग अपने समृद्ध अनुभव के कारण नौजवानों को तुच्छ समझें। अगर गुण-दोष विवेचन न किया जाए, तो इस प्रकार की तमाम चीजें हमारे रास्ते की बाधाएँ अथवा हमारे सिर का बोझ बन जाती हैं। ऐसे बोझ को उठाए रहने के कारण ही कुछ कामरेड जनता से अलग रहकर अत्यन्त घमण्डी बने रहते हैं और बार-बार गलतियाँ करते हैं। अतएव जनता के साथ निकट सम्पर्क बनाए रखने और कम से कम गलतियाँ करने के लिए एक जरूरी शर्त यह है कि आदमी अपने बोझ की जाँच करे, उससे छुटकारा पाए और अपने दिमाग को मुक्त करे। हमारी पार्टी के इतिहास में कई अवसर ऐसे आए हैं जब भारी दम्भ ने सिर उठाया और परिणामस्वरूप हमें क्षति उठानी पड़ी। पहला अवसर 1927 के पूर्वार्ध में था। उत्तरी अभियान सेना ऊहान पहुँच चुकी थी और कुछ कामरेड इतने घमण्डी और अहंकारी हो गए थे कि वे यह भूल गए कि क्वोमिंताङ हम पर हमला करने वाली है। इसके परिणामस्वरूप छन तू-श्यु कार्यदिशा की गलती हुई, जिससे क्रान्ति पराजित हो गई। दूसरा अवसर 1930 में था। फङ य्वी-श्याङ और येन शी-शान के विरुद्ध च्याङ काई-शेक के व्यापक युद्ध[1] से लाभ उठाकर लाल सेना ने कई लड़ाइयाँ जीतीं, और फिर एक बार कुछ कामरेड घमण्डी और अहंकारी बन गए। परिणामस्वरूप ली ली-सान कार्यदिशा की गलती हुई, जिससे क्रान्तिकारी शक्तियों को फिर एक बार क्षति उठानी पड़ी। तीसरा अवसर 1931 में था। लाल सेना ने क्वोमिंताङ की "घेरा डालने और विनाश करने" की तीसरी मुहिम को विफल बना दिया था और उसके तुरन्त बाद जापानी आक्रमण के खिलाफ़ पूरे देश की जनता ने एक तूफानी और वीरतापूर्ण जापान-विरोधी आन्दोलन चलाया था; और फिर एक बार कुछ कामरेड घमण्डी और अहंकारी बन गए। परिणामस्वरूप राजनीतिक कार्यदिशा में पहले के मुकाबले कहीं भारी गलती हुई जिसके कारण हमारी क्रान्तिकारी शक्तियाँ, जिन्हें हमने इतने परिश्रम से जुटाया था, लगभग 90 प्रतिशत समाप्त हो गईं। चौथा अवसर 1938 में था। प्रतिरोध-युद्ध छिड़ चुका था और संयुक्त मोर्चा स्थापित हो चुका था कि एक बार फिर कुछ कामरेड घमण्डी और अहंकारी बन गए। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने छन तू-श्यू कार्यदिशा से मिलती-जुलती गलती की। इस बार क्रान्तिकारी कार्य को उन जगहों पर जबरदस्त धक्का पहुँचा जहाँ इन कामरेडों के गलत विचारों का प्रभाव विशेष रूप से अधिक था। घमण्ड और गलतियों के इन उदाहरणों से समूची पार्टी के कामरेडों को शिक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए। हाल ही में हमने ली चि-छङ के बारे में क्वो मो-जो का लेख[2] दोबारा प्रकाशित किया है, ताकि कामरेड इस कहानी से सबक सीखें और सफलता के क्षणों में घमण्ड से फूल जाने की गलती को न दोहराएँ।

"मशीनरी चालू करने" का अर्थ है दिमाग का सदुपयोग करना। यद्यपि कुछ लोग अपने सिर पर बोझ नहीं रखते और उनमें जनता से निकट सम्पर्क बनाए रखने का गुण है, फिर भी वे कोई सफलता पाने में असफल रहते हैं क्योंकि वे ठीक ढंग से सोचना नहीं जानते अथवा अपने दिमाग को अधिक सोचने और गहराई से सोचने के लिए इस्तेमाल करने को तैयार नहीं है। दूसरे लोग अपने दिमाग को इस्तेमाल करने से इनकार करते हैं क्योंकि वे ऐसा बोझ लिए रहते हैं जो उनकी बुद्धि को दबा देता हैं। लेनिन और स्तालिन अक्सर लोगों को सलाह दिया करते थे कि वे अपने दिमाग को इस्तेमाल करें और हमें भी यही सलाह देनी चाहिए। इस यंत्र-दिमाग का विशेष काम है सोचना। मेनशियस ने कहा था, "मस्तिष्क का काम चिन्तन है।"[3] उसने मस्तिष्क के काम की ठीक व्याख्या की थी। हमें हमेशा अपने दिमाग को इस्तेमाल करना चाहिए और हर चीज़ पर बड़ी बारीकी से विचार करना चाहिए। कहावत है, "अपने दिमाग पर जोर डालो, तो तुम्हें जरूर कोई न कोई तरकीब सूझ जाएगी।" दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ज्यादा चिन्तन-मनन करने से बुद्धि का विकास होता है। बिना सोचे-समझे काम करने के तरीके से छुटकारा पाने के लिए, जो हमारी पार्टी में गम्भीर मात्रा में मौजूद है, हमें अपने साथियों को इस बात के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए कि वे चिन्तन-मनन करें, विश्लेषण करने का तरीका सीख लें और विश्लेषण करने की आदत डालें। हमारी पार्टी में यह आदत बहुत ही कम है। अगर हम बोझ से छुटकारा पा लें और मशीनरी को चालू कर दें, अगर हम हल्के होकर चलें और गहराई से सोचना सीख लें, तो हमारी जीत निश्चित है।

नोट

1. युद्ध सरदारों के दरम्यान यह बड़े पैमाने का युद्ध, जिसमें एक ओर च्याङ काई-शेक और दूसरी ओर फ़ङ य्वी-श्याङ तथा येन शी-शान थे, लुङहाए और थ्येनचिन-फूखओ रेलवे लाइनों के आसपास लड़ा गया। यह युद्ध मई से अक्टूबर 1930 तक छः महीने चलता रहा। इसमें दोनों ओर 3 लाख व्यक्ति हताहत हुए।

2. क्वो मो-जो ने 1944 में, मिङ वंश के अन्तिम वर्षों में ली चि-छिङ के नेतृत्व में हुए किसान विद्रोह की विजय की 300 वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष में "1644 के विद्रोह की 300 वीं जयन्ती" शीर्षक निबन्ध लिखा। उन्होंने बताया कि यह विद्रोह 1645 में इसलिए पराजित हुआ क्योंकि 1644 में किसान सेनाओं के पेकिङ में प्रवेश करने के पश्चात उनके कुछ नेता विलासिता के जीवन से भ्रष्ट हो गए और उन्होंने आपस में लड़ना शुरू कर दिया। यह निबन्ध पहले छुङकिङ के "नव चीन दैनिक" में प्रकाशित हुआ था और बाद में येनान तथा अन्य मुक्त क्षेत्रों में भी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ था।

3. "मेनशियस", ग्रन्थ 11, "काओ त्सि", भाग 1।

(12 अप्रैल 1944)

महंगाई रोकने की सरकारी कवायद–मर्ज और बढ़ेगा सरकारी दवा से

बिगुल संवाददाता

महंगाई के बोझ तले कराह रही जनता के दुख से आजकल सरकार और विपक्षी दोनों ही बहुत दुखी नज़र आ रहे हैं। जनता को इस दुख से उबारने के लिए वे लगातार बैठकें आयोजित कर रहे हैं और महंगाई रोकने के उपायों पर विचार-विमर्श कर रहे हैं। सरकार और विपक्षी पार्टियों की चिन्ता इसलिए और भी बढ़ती ही जा रही है कि आगामी दिनों में होने वाले चुनावों में जनता की कराह कहीं चीख न बनकर फूट पड़े और इसका खामियाजा उन्हें भुगतना पड़े।

विगत दो-तीन महीनों में गेहूँ, अरहर, उड़द, मूँग, चावल, चीनी, आलू व तिलहन के दामों में बेतहाशा वृद्धि हुई है। आवश्यक वस्तुओं की महंगाई से त्रस्त आम जनता को राहत पहुँचाने के लिए केन्द्र सरकार ने 'ड्यूटी फ्री' करते हुए निजी कम्पनियों को गेहूँ और चीनी आयात करने की अनुमति देने का निर्णय लिया है। बढ़ी हुई कीमतों के बारे में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह की अध्यक्षता में राजनीतिक मामलों की मंत्रिमण्डलीय समिति की बैठक में लिए गये निर्णय की जानकारी देते हुए वित्तमंत्री पी. चिदम्बरम ने फरमाया है कि आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में हुई वृद्धि को रोकने के लिए निजी कम्पनियों को गेहूँ आयात करने की छूट दी गयी है और चीनी आयात के लिए कोटा और विशेष शुल्क तय किया जायेगा, जो नये पेराई सत्र की शुरुआत (30 सितम्बर 2006) होने तक लागू होगा। इसके अतिरिक्त राज्यों को निर्देश दिया गया है कि वे जमाखोरी रोकने के लिए सतर्कता बरतें।

अब देखना यह है कि क्या सरकार वाकई जनता के दुख से दुखी है और उसे दुख से उबारने के जो उपाय निकाले जा रहे हैं, उससे जनता की परेशानी दूर होगी या और बढ़ेगी। महंगाई दूर करने के लिए सरकार द्वारा लिये गये निर्णय में वाकई किसका हित छिपा हुआ है, इसे देखने के लिए थोड़ा और गहराई में उतरना पड़ेगा।

दरअसल हमारे देश की सार्वजनिक वितरण प्रणाली जो खाद्यान्न उत्पादन, खरीद तथा उसके वितरण के तीन स्तम्भों पर टिकी हुई थी आज तहस-नहस हो चुकी है उसे पूरी तरह से खत्म करने और सबकुछ निजी हाथों में सौंपने के लिए सरकार कमर कस चुकी है। बताया जाता है कि खाद्य व सार्वजनिक वितरण मंत्रालय ने इस सिलसिले में आर्थिक मामलों की संसदीय कमेटी के सामने जो आठ प्रमुख सिफारिशें की गयी हैं उसमें पहला है कि राज्यों के लिए गेहूँ के आवंटन की मात्रा घटायी जाये और गेहूँ की जगह मोटे अनाज का वितरण किया जाये दूसरे, सम्पूर्ण ग्रामीण रोज़गार योजना में मजदूरी के एक हिस्से के तौर पर अनाज़ दिये जाने की व्यवस्था खत्म की जाये तीसरे, सूखा पीड़ित इलाकों के लिए अनाज के आवण्टन में कमी की जाये चौथे, सार्वजनिक वितरण प्रणाली के जरिए खाद्यान्न वितरण के मामले में गरीबी रेखा के नीचे (बी.पी.एल) तथा गरीबी रेखा के ऊपर (ए.पी.एल.) दोनों ही श्रेणियों के लिए खाद्यान्न की कीमत बढ़ायी जाये पाँचवे, उक्त दोनों श्रेणियों के अन्तर्गत आने वाले लोगों का खाद्यान्न कोटा कम किया जाये छठें, खाद्यान्न की कीमतों पर अंकुश लगाने के लिए सरकारी भण्डारों से जो अनाज निकाला जाता रहा है, उसे बन्द किया जाये। सातवें सूखा जैसे प्राकृतिक आपदा झेलने वाले इलाकों की जो अनाज आवंटित किया जाता रहा है, उसे भी कम कर दिया जाये। यानी महंगाई की मार झेलने वालों को अबतक जो सुविधा मिलती रही है, उसमें कटौती कर दिया जाये या बन्द कर दिया जाये।

जहाँ महंगाई को रोकने के लिए सार्बजनिक वितरण प्रणाली के जरिए सस्ते अनाज वितरण की व्यवस्था को और मज़बूत बनाया जाना चाहिए था वहाँ इसे खत्म कर देने की साजिशें रची जा रही है। आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में जरा सी भी बढ़ोत्तरी जिन करोड़ों परिवारों के जीवन को ही मुश्किल में डाल देता है और उन्हें कुपोषण और भुखमरी का सामना करना पड़ता है उनकी चिन्ता के बहाने दरअसल सरकार उनके पेट पर लात मारने की तैयारियां कर रही है। खाद्य और वितरण मंत्रालय की सिफारिशों पर नज़र डालते ही यह बात साफ हो जाती है। दरअसल गेहूँ आयात करने के लिए ज़रूरी है कि सरकारी खरीद केन्द्रों को गेहूँ की आपूर्ति बन्द कर दी जाये। खाद्यान्न की खरीद व वितरण में भारतीय खाद्य निगम की भूमिका को घटाये जाने का भी मकसद यही है कि कीमतों पर अंकुश लगाने के लिए बाज़ार में हस्तक्षेप करने की सरकार की जो ज़िम्मेदारी बनती थी उससे सरकार को मुक्त कर दिया जाये और सबकुछ निजी हाथों को सुपुर्द कर बाज़ार को खुला कर दिया जाये। इसीतरह से, ग्रामीण रोज़गार योजना के अन्तर्गत मज़दूरी का एक हिस्सा अनाज के रूप में दिये जाने की योजना को बन्द करने का मतलब मज़दूरों को दी जाने वाली वास्तविक मज़दूरी की कीमत को और भी कम कर दिया जाना है क्योंकि जो मज़दूरी नक़द के रूप में दी जायेगी वह बाज़ार में बढ़ी कीमतों पर अनाज खरीदने के लिए नाकाफी होगी।

और यह सारी मशक्कत इसलिए कि सरकार धीरे-धीरे सबकुछ निजी हाथों में सौंपकर जनता के प्रति अपनी ज़िम्मेदारियों और जबावदेही से मुक्त हो जाये। इसीलिए सरकार हर साल गेहूँ की सरकारी खरीद को घटाकर निजी व्यापारियों को इस क्षेत्र में आने का रास्ता साफ कर रही है और इससे सम्बन्धित मंत्रालय के मंत्री दलीलें दे रहे हैं कि इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है बल्कि इससे किसानों को अपनी पैदावार की बेहतर कीमत मिलेगी। जबकि सच्चाई यह है कि निजी व्यापारियों के हित को ध्यान में रखते हुए जो बदलाव किये जा रहे हैं उसमें सरकारी एजेंसियाँ पंगु होकर रह गयी हैं। अब निजी व्यापारियों को गेहूँ खरीद के लिए गाँव-गाँव जाकर सीधे किसानों से खरीदने का मौका मिल गया है और इसके लिए उसे किसी लाइसेंस या मान्यता प्राप्त एजेण्ट की सहायता लेने की जरूरत नहीं है। न ही मण्डी की फीस मारने की ही ज़रूरत है जबकि भारतीय खाद्य निगम केवल रजिस्टर शुदा मण्डियों में ही जा सकता है और उसे इसके लिए फीस भी भरनी पड़ती है जिससे उसकी लागत बढ़ जाती है। इसी तरह निजी व्यापारियों द्वारा अनाज के भण्डार को हथिया लिए जाने व जमाखोरी की इजाजत मिल गयी है। इस प्रकार निजी व्यापारियों के दोनों हाथों में लड्डू है। इसे कहते हैं कि हींग लगे न फिटकरी रंग चोखा।

इधर सरकार घड़ियाली आँसू बहाते हुए लगातार महंगाई के लिए कम उत्पादन और पेट्रोलियम के बढ़े दामों का रोना रो रही है और राज्यों की जमाखोरी रोकने के लिए निर्देश जारी कर रही है। दरअसल महंगाई के बढ़ने का कारण सरकार द्वारा तय की जा रही नीतियों में ही निहित है जिसे अन्य सरकारों के मुकाबले कांग्रेसी हुकूमत ज्यादा कुशलतापूर्वक अंजाम दे रही है और उसे ही ढकने के लिए तरह-तरह के स्वांग रच रही है और सच्चाई पर भ्रम की चादर डालने का काम कर रही है। इनसे किसी तरह की उम्मीद पालना एक मृगमरीचिका ही साबित होगा। आज ज़रूरत है जनता को लूटने के इनके सभी मंसूबों को समझकर उसका पर्दाफाश किया जाये।

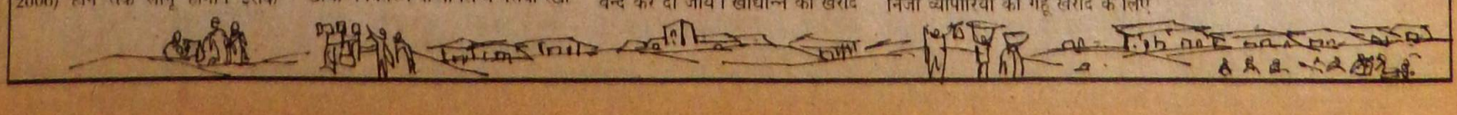

जनमुक्ति संघर्ष की राह पर आगे बढ़ो!

(पेज 1 से आगे)

दिलचस्पी का विषय हो सकता है कि अर्जुन सिंह को इस दाँव से प्रधानमंत्री की कुर्सी मिलेगी या नहीं। मेहनतकश जनता के हिरावलों के लिए तो सोचने का विषय यह है कि आम मेहनतकश जनता की वर्गीय लामबन्दी की राह में जाति का सवाल जिस तरह की चुनौती बनकर खड़ा है उससे निपटने की सही रणनीति और रास्ते क्या हों?

सोचने का सबसे पहला सवाल यह है कि आखिर आम मेहनतकश आबादी शासक वर्गों की कुटिल चालों का शिकार क्यों हो जाती है? आखिर क्यों भारी आबादी आरक्षण के विरोध और समर्थन के दो पालों में एक दूसरे के खिलाफ़ खड़ी हो जाती है?

आरक्षण का लुकमा बनाम 'जाति का जहर'

दरअसल, जातिगत उत्पीड़न और भेदभाव का सवाल भारतीय समाज का एक सर्वाधिक बुनियादी और अहम सवाल है। शताब्दियों पुराने जातिगत पूर्वाग्रह और पार्थक्य आज भी अधिकांश आम भारतीय नागरिक के संस्कारों में गहराई से रचे-बसे हैं। फ़र्क यह है कि कहीं इसकी नग्न-निरंकुश अभिव्यक्ति देखने को मिलती है तो कहीं इसका बारीक और "सुघड़" रूप सामने आता है। इसमें भी सन्देह नहीं कि दलित और कुछ पिछड़ी जातियाँ जातिगत अपमान और उत्पीड़न के अतिरिक्त, आबादी में अपने अनुपात के मुकाबले, सामाजिक-आर्थिक हैसियत में भी सवर्ण जातियों की तुलना में आज भी काफी पीछे हैं। कुछ पिछड़ी जातियों ने आज़ादी के बाद के वर्षों में, गाँवों में पूँजीवादी फार्मरों-कुलकों के रूप में अपनी स्थिति मज़बूत की है और पूँजीवादी चुनावी राजनीति में भी उनकी भागीदारी सशक्त हुई है, लेकिन शहरी रोज़गारों और स्वतंत्र बौद्धिक पेशों में वे आज भी काफी पीछे हैं। पूँजी की सर्वग्रासी मार ने सवर्ण जातियों की एक भारी आबादी को भी सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा और परेशानहाल आम निम्न मध्यवर्ग की कतारों में धकेल दिया है, लेकिन तस्वीर का दूसरा पहलू यह भी है कि औपनिवेशिक काल तक की अर्द्धसामन्ती सामाजिक संरचना में जो दलित और पिछड़ी जातियाँ सबसे नीचे की परतों के रूप में पिस रही थीं, उनमें से अधिकांश आज के पूँजीवादी पद-सोपान-क्रम में भी सबसे नीचे के पायदानों पर खड़ी हैं। उन्हें "ऊपर उठाने" के तमाम सरकारी उपक्रमों ने दलित आबादी के एक अत्यन्त छोटे हिस्से को सरकारी नौकरियों की (उनमें भी ज्यादातर छोटी नौकरियाँ) सुविधा दी है और इसके बदले गाँवों-शहरों में उजरती गुलामी का नारकीय जीवन बिताने वाली बहुसंख्यक दलित आबादी के प्रति आम ग़रीब एवं मध्यवर्गीय सवर्ण आबादी में पहले से ही मौजूद जातिगत पूर्वाग्रह, विद्वेष एवं घृणा को नये सिरे से खाद-पानी देने का काम किया है।

पिछड़ी जातियों की स्थिति थोड़ी-सी भिन्न है। आज़ादी के बाद भारतीय खेती के पूँजीवादीकरण के साथ ही ज़मीन का मालिक बने किसानों के जिस तबके ने बाज़ार के लिए पैदा करके मुनाफ़ा कमाने वाले पूँजीवादी फार्मरों-भूस्वामियों-कुलकों के रूप में विकास किया, यदि उसकी जातिगत पृष्ठभूमि को देखा जाये तो पता चलेगा कि वह अधिकांशतः काश्तकारी करने वाली जाट, मराठा, रेड्डी, कम्मा, कुर्मी, सैंथवार, कोइरी, यादव आदि पिछड़ी जातियों से मिलकर बना था। अपनी बढ़ती आर्थिक शक्ति के हिसाब से इन जातियों के प्रभावी लोगों ने पूँजीवादी चुनावी राजनीति में भी अपनी भागीदारी बढ़ायी, कई राज्यों में अलग-अलग हदों तक द्विज जाति के धनिकों को सत्ता से विस्थापित भी किया तथा नये ग्रामीण परिदृश्य में दलितों के (जिनमें से अधिकांश खेत मज़दूर ही हैं) नये उत्पीड़क के रूप में सामने आये। लेकिन इस दिखायी पड़ने वाली सच्चाई के पीछे की यह मूल सच्चाई प्रायः नज़रों से ओझल कर दी जाती है कि भारत की हज़ारों पिछड़ी जातियों में से मुश्किल से दर्जन भर को छोड़कर, अन्य की स्थिति आर्थिक-सामाजिक हैसियत की दृष्टि से लगभग दलितों जैसी. या उनसे कुछ ही ऊपर है। और पूँजीवादी फार्मरों-भूस्वामियों-कुलकों में जिन पिछड़ी जातियों की बहुलता है, उन पिछड़ी जातियों का भी 70-80 प्रतिशत हिस्सा आज निम्न मध्यवर्गीय किसान, ग्रामीण व शहरी निम्न मध्यवर्ग तथा सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा के रूप में ही ज़िन्दगी बसर कर रहा है। पूँजी की लगातार बढ़ती मार उन्हें उनकी जगह-ज़मीन से उजाड़कर गाँवों में, और उससे भी अधिक शहरों में, मज़दूरी और दफ़्तरी नौकरी-चाकरी की तलाश के लिए विवश कर रही है।

ऐसे समय में सत्ताधारी वर्ग जब नौकरियों या उच्च शिक्षा में आरक्षण का लुकमा फेंकते हैं तो पहले से नौकरियों पर आश्रित, मध्यवर्गीय, सवर्ण जातियों के छात्रों और बेरोज़गार युवाओं को लगता है कि आरक्षण की बैसाखी के सहारे दलित और पिछड़ी जातियाँ उनके रोज़गार के रहे-सहे अवसरों को भी छीन रही हैं। वे इस ज़मीनी हक़ीक़त को नहीं देख पाते कि वास्तव में रोज़गार के अवसर ही इतने कम हो गये हैं कि यदि आरक्षण को एकदम समाप्त कर दिया जाये तब भी सवर्ण जाति के सभी बेरोज़गारों को रोज़गार नहीं मिल पायेगा। इसी तरह दलित और पिछड़ी जाति के युवा यह नहीं देख पाते कि यदि आरक्षण के प्रतिशत को कुछ और बढ़ा दिया जाये और यदि वह ईमानदार और प्रभावी ढंग से लागू कर दिया जाये, तब भी दलित और पिछड़ी जातियों के पचास प्रतिशत बेरोज़गार युवाओं को भी रोज़गार नसीब न हो सकेगा। उनके लिए रोज़गार के जो थोड़े से नये अवसर उपलब्ध होंगे, उनका भी लाभ मुख्यतः मध्यवर्गीय बन चुके दलितों और आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक रूप से प्रभावशाली पिछड़ी जातियों के लोगों की एक अत्यन्त छोटी-सी आबादी के खाते में ही चला जायेगा तथा गाँवों-शहरों में सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा का जीवन बिताने वाली बहुसंख्यक आबादी को इससे कुछ भी हासिल नहीं होगा।

ज़रूरत इस बात की है कि सदियों पुराने जातिगत पूर्वाग्रहों और शासक वर्गों की कुटिल चालों का शिकार होने के बजाय मेहनतकश और उनके बेटे-बेटियाँ इन बुनियादी प्रश्नों पर विचार करें कि भारतीय समाज को गहराई से ग्रसे 'जाति के ज़हर' को जड़मूल से समाप्त करने का, जातिगत बँटवारे को समाप्त करने का तथा बर्बर जातिगत उत्पीड़न और घोर जातिगत अपमान से दलित एवं विभिन्न पिछड़ी जातियों की अन्तिम मुक्ति की परियोजना क्या होगी? ज़रूरत इस सवाल पर सोचने की है कि जातिगत भेदभाव और बँटवारे को भारतीय जनता की मुक्ति और एक समतामूलक समाज के निर्माण के ऐतिहासिक क्रान्तिकारी प्रोजेक्ट का बुनियादी और अविभाज्य अंग किस प्रकार बनाया जाये? इन्हीं बुनियादी सवालों के मद्देनज़र हम आरक्षण के पक्ष और विपक्ष में बँटे लोगों से चन्द दो-टूक बातें करना चाहते हैं।

आरक्षण के विरोधियों से चन्द दो टूक बातें

उच्च शिक्षण संस्थानों में पिछड़ों को सत्ताईस प्रतिशत आरक्षण देने का प्रस्ताव जब सामने आया तो इसके विरुद्ध सर्वप्रमुख तर्क यह दिया गया कि इससे भारत में स्वास्थ्य सेवाओं का स्तर नीचे आ जायेगा, यह आम जनता के जीवन से खिलवाड़ होगा, इससे वैज्ञानिक शोध का स्तर प्रभावित होगा और देश की प्रगति प्रभावित होगी... वगैरह-वगैरह। लेकिन यह तो बताइये कि जिस "चिन्ता" के चलते आप योग्यता का यह तर्क गढ़ रहे हैं, उस "चिन्ता" के आधार पर तो आपको एन.आर.आई. कोटे के तहत और कैपिटेशन फीस के आधार पर मेडिकल और इंजीनियरिंग कालेजों में प्रवेश के बरसों पहले लागू फ़ैसले का भी विरोध करना चाहिए था? लेकिन इस मसले पर तो आपने चूँ भी नहीं किया! क्या अनिवासी भारतीयों और दस-दस लाख रुपये तक कैपिटेशन फीस दे सकने वाले देशी धन्ना सेठों की सभी औलादें प्रतिभाशाली ही पैदा होती हैं? इन संस्थानों में दाखिले के लिए धनिकों की जमात अपने कुलदीपकों की कोचिंग पर लाखों रुपये खर्च कर देती है। यदि आप इंसाफ़पसन्द हैं और योग्यता को लेकर चिन्तित हैं तो फिर आपने कभी सरकार से इस तरह की माँग क्यों नहीं की कि वह या तो ऐसे प्राइवेट कोचिंग संस्थानों पर रोक लगाकर सभी अभ्यर्थी छात्रों के लिए निःशुल्क या सस्ती कोचिंग की समान व्यवस्था लागू करे या फिर दलितों, अन्य पिछड़ी जातियों और वंचित तबकों के लिए अलग से निःशुल्क कोचिंग का प्रावधान करे ताकि कोई योग्य व्यक्ति महज़ आर्थिक-सामाजिक कारणों से इन संस्थानों में प्रवेश से वंचित न रह जाये! यदि आप वास्तव में इंजीनियरिंग, मेडिकल और वैज्ञानिक शोध के गिरते स्तर की आशंका और इन क्षेत्रों में अयोग्य लोगों के प्रवेश को लेकर चिन्तित हैं, तो आपने मेडिकल, इंजीनियरिंग, पैरामेडिकल, तकनीकी और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में लगातार तेज़ होती जा रही निजीकरण की लहर का कभी विरोध क्यों नहीं किया, जिसके चलते शिक्षा मात्र व्यापार या पैसे का खेल होकर रह गयी है! लाख योग्यता हो, पैसे और पहुँच के अभाव में आगे बढ़ पाने की रही-सही सम्भावनाएँ भी लगातार सिकुड़ती जा रही हैं! क्या आप इसके विरोध में भी कभी शामिल हुए हैं?

सच्चाई यह है कि आरक्षण के विरोध की वर्तमान लहर के पीछे (पहले की तरह) मूलतः और मुख्यतः योग्यता, न्याय और राष्ट्रहित की कोई चिन्ता नहीं बल्कि सदियों पुराने, गहरे, दलित और पिछड़ा विरोधी जातिगत पूर्वाग्रहों, घृणा और प्रतिक्रियावादी संस्कारों की अहम भूमिका है। सवर्ण जाति का शिक्षित मध्यवर्ग यह सोचता है कि आरक्षण के कारण अब दलित और पिछड़े भी उनके बराबरी में आ जायेंगे और उनके विशेषाधिकारों में बाँट-बखरा करने लगेंगे। वह यह नहीं सोचता कि एक न्यायसंगत जनवादी व्यवस्था में सभी को शिक्षा, स्वास्थ्य और रोज़गार का बुनियादी अधिकार है और लड़ाई ऐसी एक व्यवस्था की स्थापना के लिए होनी चाहिए। इसके बजाय, सरकार जैसे ही आरक्षण का शिगूफ़ा उछालती है, वह सोचता है कि पहले से ही सिकुड़ते शिक्षा और रोज़गार के अवसर इन दलितों और पिछड़ों के कारण अब और कम हो जायेंगे और समान एवं निःशुल्क शिक्षा तथा सबको रोज़गार के समान अवसर के सार्विक अधिकार के मसले पर निर्णायक संघर्ष की दीर्घकालिक तैयारी के बजाय वह आरक्षण का विरोध करने में जुट जाता है। इसके लिए **न्याय और राष्ट्रहित के चाहे जितने तर्क गढ़े जायें, वास्तव में इसके पीछे गहन दलित-विरोधी और पिछड़ी जाति-विरोधी मानवद्वेषी, प्रतिक्रियावादी भावना और सदियों पुराने जातिगत प्रतिक्रियावादी संस्कार काम कर रहे होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो 'यूथ फॉर इक्वैलिटी' के बैनर तले संचालित रैलियों में क्षत्रिय स्वाभिमान मंच, सवर्ण अधिकार मोर्चा, ब्राह्मण अधिकार मंच और मनुवादी मोर्चा जैसे बैनर नहीं दिखायी देते। ये बैनर बताते हैं कि आरक्षण का विरोध करने वाली मुख्यधारा सवर्णता और द्विजता की ज़मीन पर खड़ी होकर अपने विशेषाधिकारों की हिफ़ाज़त करना चाहती है।** इसी के चलते दलित और पिछड़ी जातियों के आम लोगों में भी, स्वाभाविक तौर पर, जातिगत आधार पर एक प्रतिक्रिया पैदा होती है और समस्या की तह तक पहुँचने के बजाय और जाति-प्रश्न के निर्णायक एवं अन्तिम समाधान की किसी क्रान्तिकारी, आमूलगामी परियोजना पर सोचने-विचारने के बजाय वे आरक्षण के समर्थन में आँख मूँदकर खड़े हो जाते हैं। नतीजतन, आम आबादी का जातिगत पार्थक्य और द्वेषभाव एक बार फिर गहरा हो जाता है, उसे फिर एक नयी खुराक मिल जाती है। शासक वर्गों की चालबाज़ी एक बार फिर सफल हो जाती है और साम्राज्यवादी-पूँजीवादी लूट और अँधेरगर्दी के विरुद्ध सभी शोषितों-उत्पीड़ितों को एकजुट करने की कोशिशों पर वे एक बार फिर प्रभावी ढंग से चोट कर पाने में सफल हो जाते हैं।

अब हम इसी प्रश्न पर आरक्षण के समर्थकों से भी चन्द दो-टूक बातें करना चाहते हैं।

आरक्षण के समर्थकों से चन्द दो टूक बातें

तमाम सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों और पूँजीवादी आर्थिक विकास के बावजूद, राजनीतिक स्वतंत्रता-प्राप्ति के लगभग छह दशक बाद भी हमारे देश में जाति का ज़हर समाज के पोर-पोर में मिला हुआ है। दलित जातियाँ न केवल अपमानजनक सामाजिक पार्थक्य और बर्बर सामाजिक उत्पीड़न की शिकार हैं, बल्कि आर्थिक तौर पर भी लगभग नब्बे फीसदी दलित आबादी पूँजीवादी समाज के "नये गुलामों"—उजरती मज़दूरों की कतारों में खड़ी है। पिछड़ी जातियों की स्थिति उनसे कुछ भिन्न है और देश के कई हिस्सों में इनका एक हिस्सा पूँजीवादी धनी किसान बनकर गाँवों के स्तर पर शोषक-शासक जमात में शामिल हो गया है, दलित जातियों का नया उत्पीड़क बनकर उभरा है तथा गाँवों से लेकर राज्यों और देश के केन्द्रीय राजनीतिक तंत्र तक में इसकी वर्गीय स्थिति के अनुरूप हिस्सेदारी भी बनी है, लेकिन शिक्षा, शहरी नौकरियों, प्रशासन और स्वतंत्र व्यवसायों में इसकी भागीदारी अभी सानुपातिक रूप से काफ़ी कम है और इसका आधार मुख्यतः कृषि अर्थव्यवस्था बना हुआ है। लेकिन इससे भी अहम बात यह है कि कुछ पिछड़ी जातियों के एक छोटे से हिस्से को छोड़कर, उनका बड़ा हिस्सा और अन्य अधिकांश पिछड़ी जातियाँ सामाजिक-आर्थिक तौर पर दलितों के ही समकक्ष या उनसे कुछ ही ऊपर हैं तथा आर्थिक तौर पर उनकी स्थिति सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा या निम्नमध्यवर्ग से आगे की कत्तई नहीं है। इनका जो हिस्सा कृषि अर्थव्यवस्था में मुनाफ़ाख़ोर वर्ग और ग्रामीण समाज के स्वामी वर्ग का हिस्सा बन चुका है, वह तो कालान्तर में पैसे की ताक़त

(पेज 7 पर जारी)

जनमुक्ति संघर्ष की राह पर आगे बढ़ो!

(पेज 6 से आगे)

से उच्च शिक्षा और नौकरियाँ हासिल करके शहरी अभिजन समाज का अंग (या समकक्ष) बन भी जायेगा, लेकिन पिछड़ी जातियों की बहुसंख्यक ग़रीब आबादी तो पूँजीवादी समाज की असमानतापूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में लगातार पिछड़ती ही चली जायेगी।

भारतीय समाज की इस नंगी, क्रूर और वीभत्स सच्चाई के मद्देनज़र, यदि भावुकतापूर्ण ढंग से उद्विग्नचित्त होकर सोचा जाये तो दलितों और पिछड़ों के लिए शिक्षा और नौकरियों में आरक्षण का फार्मूला न्यायसंगत प्रतीत होता है। लेकिन गहराई से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दलितों और पिछड़ी जातियों की वास्तविक सामाजिक-आर्थिक स्थिति में, वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के फ्रेमवर्क के भीतर, आरक्षण या ऐसे किसी भी प्रावधान से कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं होने वाला है। **आरक्षण का मूल मन्तव्य सदियों से वंचित-उत्पीड़ित लोगों के आक्रोश की ज्वाला को भड़क उठने से रोकने के लिए उस पर पानी के छींटे मारना मात्र है। शोषित-उत्पीड़ित दलितों और पिछड़ी जातियों के आक्रोश को व्यवस्था-विरोधी विस्फोट के रूप में फूट पड़ने से रोकने के लिए आरक्षण का हथकण्डा एक सेफ्टीवॉल्व का काम करता है।**

दलितों के लिए दो दशकों से शिक्षा और रोज़गार के क्षेत्र में लागू आरक्षण से मात्र इतना फ़र्क पड़ा है कि उनके बीच से एक अत्यन्त छोटा, सुविधाजीवी मध्यवर्ग पैदा हुआ है जो गाँवों और शहरों में निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलामों का जीवन बिताने वाले दलितों से अपने को पूरी तरह काट चुका है। चूँकि उसे भी ऊँची जातियों के हमपेशा लोगों के बीच तरह-तरह से, प्रत्यक्ष-परोक्ष सामाजिक अपमान का सामना करना पड़ता है, इसलिए वह उस दलितवादी राजनीति के पक्षधर, प्रवक्ता और सिद्धान्तकार की भूमिका बढ़-चढ़कर निभाता है, जिसका चरित्र तमाम गरमागरम बातों के बावजूद, निहायत सुधारवादी है और जो व्यापक दलित आबादी की भावनाओं को भुनाकर मात्र अपना वोट बैंक मज़बूत करने का काम किया करती है। रिपब्लिकन पार्टी से लेकर बसपा और उदितराज की पार्टी तक, और यही नहीं, तमाम छोटे-छोटे रैडिकल दलित संगठनों से लेकर अधिकांश दलितवादी बुद्धिजीवियों तक—सभी पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर ही सुधार की गुंजाइश के लिए लड़ते हैं, चाहे उनके तेवर जितने भी तीखे हों।

आरक्षण समर्थकों को यह समझना होगा कि उदारीकरण-निजीकरण के इस "रोज़गारविहीन विकास" के दौर में जब सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरियाँ लगातार कम होती जा रही हैं (और निजी क्षेत्र में भी कुल मिलाकर उत्पादन के विकास और संवर्धक्षेत्र के विस्तार के अनुपात में रोज़गार के अवसर पहले के मुकाबले काफ़ी कम पैदा हो रहे हैं) तो ऐसी स्थिति में आरक्षित नौकरियों का प्रतिशत यदि कुछ बढ़ भी जाये तो आम दलित और पिछड़ों की जीवन स्थितियों में भला इससे क्या फ़र्क पड़ने वाला है? एक बटलोई भात पर यदि सौ खाने वाले हों और भात का कुछ हिस्सा कुछ प्रतिशत अधिक भूखों के लिए आरक्षित भी कर दिया जाये तो किसी भी भूखे की स्थिति में कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा, क्योंकि भूखों की संख्या की तुलना में भात है ही बहुत कम! आज आरक्षण का प्रतिशत यदि बढ़ा भी दिया जाये और यह पूरी तरह से लागू भी हो जाये, तो भी आम दलितों और पिछड़ों की सामाजिक स्थिति में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हो सकता।

आरक्षण की माँग यदि क्रान्तिकारी संघर्ष की दीर्घकालिक प्रक्रिया के दौरान, सुधार की एक माँग होती तो बेशक़ हम इस पर सवाल नहीं उठाते। सोलह आने की लड़ाई के फ़ैसलाकुन दौर से पहले, ऐसे भी दौर आते हैं जब दो आने की लड़ाई जीतकर हासिल को हस्तगत कर लिया जाता है और फिर आगे की तैयारी की जाती है। लेकिन दो-दो आने करके सोलह आने हासिल करने की सोच एक सुधारवादी सोच होती है, जो मौजूदा व्यवस्था को कमज़ोर करने के बजाय मज़बूत बनाती है और जनता की कतारों में दरारें पैदा करती है। आरक्षण की माँग एक ऐसी ही भयंकर भ्रमोत्पादक सुधारवादी माँग है। यह दलितवादी राजनीति की उन तमाम धाराओं के चार्टरों का साझा मुद्दा है, जो इस पूँजीवादी लूट-मार की व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर ही जाति-प्रश्न का निदान चाहती हैं। आरक्षण से यदि आम दलित और आम पिछड़ी जातियों की बहुसंख्यक आबादी की वास्तविक स्थिति में कोई बदलाव आता, तो इस सुधार को स्वीकारते हुए एक नयी सामाजिक व्यवस्था के लिए संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ना ही उचित कदम होता। पर वास्तविकता इसके विपरीत है। आरक्षण सुधार की माँग नहीं बल्कि एक सुधारवादी माँग है। यह आम उत्पीड़ित जातियों की जनता के हितों की दुहाई देती हुई, उनके एक अत्यन्त छोटे-से (लगभग नगण्य) हिस्से को मलाई चटाकर स्वामिभक्त और सत्ता का चाटुकार बनाती है, जबकि दूसरी ओर जातिगत आधार पर मेहनतकश आबादी को और आम मध्यवर्गीय आबादी को बाँट देती है तथा समस्या की मूल जड़ और मूल समाधान को दृष्टिओझल कर देती है। यह जाति-प्रश्न के निर्णायक समाधान की दिशा में जारी यात्रा को आगे बढ़ाने के बजाय दिग्भ्रमित करती है और रास्ते से भटका देती है। इसीलिए, अपने जातिवादी पूर्वाग्रहों के बावजूद सभी पूँजीवादी सिद्धान्तकार, राजनीतिज्ञ और पार्टियाँ आरक्षण के प्रश्न पर एकराय हो जाती हैं। इस शिगूफ़े के उछलते ही, सवर्ण मानस वर्चस्व वाला मीडिया और शिक्षित मध्यवर्ग दलित और पिछड़ी जातियों के विरुद्ध विषवमन करना शुरू कर देता है और पूरे समाज में जातिगत विभेद और पार्थक्य की संस्कृति को मानो एक नयी शक्ति मिल जाती है। आरक्षण के समर्थन और विरोध की राजनीतियाँ एक समान उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। वे भ्रामक और मिथ्या आशा पैदा करती हुई आम आबादी के सदियों पुराने जातिगत विभाजन को मज़बूत बनाकर उसकी वर्गीय एकता कायम करने के उपक्रमों को कमज़ोर और निष्प्रभावी बना देती हैं। इसलिए, महज़ प्रतिक्रियावश, तथ्यों की अनदेखी करते हुए, आरक्षण का समर्थन करने वालों को भी सोचना ही होगा कि इससे उन्हें वास्तव में भला क्या हासिल होने वाला है!

एक ही रास्ता—क्रान्तिकारी जन संघर्षों का रास्ता

निचोड़ के तौर पर यह कि आरक्षण चाहे लागू हो या न लागू हो, दलितों और पिछड़ी जाति के ग़रीबों की स्थिति में कोई बुनियादी फ़र्क नहीं पड़ेगा। जाति-प्रश्न के समाधान की दिशा में यह एक छोटा-सा भी कदम नहीं है। आरक्षण का शिगूफ़ा उछालकर शासक वर्ग बहुसंख्यक शोषित-वंचित-उत्पीड़ित आबादी को जातिगत आधार पर विभाजित कर देता है और उस लड़ाई के संगठित होने की प्रक्रिया को ही बाधित कर देता है, जो हमारे समाज के तमाम बुनियादी प्रश्नों के साथ ही जाति-प्रश्न के समाधान की प्रक्रिया को भी आगे बढ़ायेगी और अंजाम तक पहुँचायेगी। आरक्षण का लक्ष्य राहत या सुधार नहीं, बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए एक लुकमा फेंककर जनता को जातिगत आधार पर बाँटना है। इसका समर्थन या विरोध करने वाले जाने-अनजाने एक ही साज़िश का शिकार हो जाते हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था के कर्णधार यही चाहते हैं लेकिन पूँजीवाद के भीतर ही इसकी एक विरोधी आन्तरिक गति भी है। एक ओर जहाँ दलितों का बहुलांश (और पिछड़ी जातियों का भी पर्याप्त बड़ा हिस्सा) पूरे देश के पैमाने पर गाँवों और शहरों की सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी में शामिल है, वहीं पूँजी की मार ऊँची जाति की आबादी के एक बड़े हिस्से और पिछड़ी जाति के किसानों के भी एक बड़े हिस्से को लगातार जगह-ज़मीन, नौकरी, सम्पत्ति आदि से वंचित करते हुए सर्वहारा की कतारों में धकेलती जा रही है। समाज का अन्तरविरोधी यथार्थ यह है कि एक ओर जहाँ जातिगत आधार पर क़ायम विषमता और विभेद को क़ायम रखने वाली और खाद-पानी देने वाली कारक शक्तियाँ सक्रिय हैं, वहीं दूसरी ओर एक विरोधी गति रसातली जीवन जीने वाले उजरती गुलामों (मुख्यतः औद्योगिक सर्वहाराओं) की लगातार बढ़ती आबादी के बीच जातिगत विभेदों को तोड़कर एकता बनाने का एक वस्तुगत आधार भी तैयार कर रही है, जो पूँजी की सर्वग्रासी मार का प्रतिरोध करते हुए, ज़्यादा से ज़्यादा उनके अस्तित्व की शर्त बनती जा रही है। ज़ाहिर है कि पूँजीवादी व्यवस्था के भाड़े के टट्टू आम मेहनतकशों के बीच जातिगत विभेदों को बढ़ाने वाले मनोगत कारकों को बढ़ावा देंगे, जबकि पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी धारा का दायित्व यह होना चाहिए कि वह मेहनतकश जनता के बीच जातिगत आधार पर क़ायम विभेदों को दूर करने वाले और उन्हें बढ़ाने की हर साजिश को नाकाम करने वाले मनोगत कारकों को बल प्रदान करे। पूँजीवाद भारत में शहरीकरण और औद्योगीकरण की प्रक्रिया को लगातार अभूतपूर्व त्वरित गति से आगे बढ़ा रहा है और साथ ही सर्वहाराकरण की प्रक्रिया तथा पूँजी और श्रम के बीच के अन्तरविरोध को भी। इस नयी सर्वहारा आबादी को जातिगत विभेद मिटाकर वर्गीय आधार पर एकजुट करना सापेक्षतः सुगम होगा और यही हमारा सर्वोपरि लक्ष्य होना चाहिए, क्योंकि तभी हम एक ऐसे फ़ैसलाकुन संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे जो एक ऐसे समाज का निर्माण करेगा जो वर्ग-वैषम्य के साथ ही जाति-वैषम्य, लिंग-वैषम्य आदि समस्त विषमताओं के ख़ात्मे का फ़ैसलाकुन सिलसिला शुरू करेगा। यह अनायास नहीं है कि आरक्षण की बहस सर्वाधिक उद्वेलन मध्यवर्गीय जमातों में, और विशेषकर शहरी मध्यवर्गीय जमातों में पैदा करती है, शहरी सर्वहाराओं में नहीं। गाँवों में जो दलित और ग़रीब पिछड़ी जातियाँ हैं, वे या तो आर्थिक शोषण के साथ बर्बर सामाजिक उत्पीड़न झेलती हुई वोट बैंक की राजनीति का मोहरा बनी रहती हैं, या फिर एकजुट होकर क्रान्तिकारी ढंग से लड़ती हैं और नतीजे के तौर पर प्रायः एक हद तक स्वाभिमान-सम्मान से जीने का हक़ भी हासिल कर लेती हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर जहाँ वर्गीय आधार पर संघर्ष को संगठित करने के लिए आम जनता के बीच जड़ जमाये जातिवादी मानसिकता और संस्कृति को समाप्त करने के लिए सतत प्रयास करना होगा, वहीं वर्गीय आधार पर संगठित जन संघर्ष की सफलता ही जातिगत विभेद के निर्णायक उच्छेद की पहली गारण्टी हो सकती है। इस ऐतिहासिक-वैज्ञानिक सूत्र को पकड़कर ही आरक्षण के प्रश्न को सही ढंग से समझा जा सकता है और सही अवस्थिति अपनायी जा सकती है।

नंगी सच्चाई यह है कि भारत में जब तक पूँजीवाद रहेगा, तब तक उजरती गुलामी रहेगी और दलितों (और पिछड़ों का भी) का बहुलांश तब तक इन्हीं उजरती गुलामों की कतारों में शामिल रहेगा। जातिगत आधार पर क़ायम पार्थक्य और शोषण-उत्पीड़न का आधार पहले सामन्तवाद था और आज पूँजीवाद है। इसे समाप्त करने के लिए पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी संघर्ष के अतिरिक्त और कोई भी बुनियादी उपाय नहीं है। ज़ाहिर है कि हम केवल आर्थिक-राजनीतिक संघर्ष की ही बात नहीं कर रहे हैं। व्यवस्था विरोधी यह क्रान्तिकारी संघर्ष उस आमूलगामी सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के बिना अधूरा होगा और कभी सफल न हो सकेगा जो जातिगत विभेद को अपने एजेण्डा पर प्रमुखता के साथ स्थान देगा, जो जनता के बीच जातिगत आधार पर क़ायम विभेद को समाप्त करने के लिए सतत सक्रिय होगा। **सच्चाई यह है कि भारतीय समाज में जाति का ज़हर इतनी गहराई तक घर किये हुए है कि किसी सामाजिक-राजनीतिक क्रान्ति के बाद भी, इसके समूल नाश के लिए सतत सांस्कृतिक क्रान्ति के एक लम्बे सिलसिले की ज़रूरत होगी।**

रियायतख़ोरी और पैबन्दसाज़ी की मानसिकता से मुक्त होकर दलित-मुक्ति के प्रश्न और समूची जाति समस्या पर इस पूँजीवादी व्यवस्था की सीमाओं का अतिक्रमण करके सोचने पर ही इनके निर्णायक और अन्तिम समाधान की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है। दलितों के लिए राहत के चन्द टुकड़े जुटाने के बजाय, उनमें से कुछ को सफ़ेदपोश बनाकर शेष को झूठी उम्मीद के सहारे लटकाये रहने के बजाय, ज़रूरत इस बात की है कि दलित-मुक्ति की आमूलगामी परियोजना का खाका प्रस्तुत किया जाये। यह आमूलगामी परियोजना जन-मुक्ति की किसी व्यापक क्रान्तिकारी परियोजना के एक अंग के रूप में ही सम्भव हो सकती है।

शताब्दियों से सर्वाधिक व्यवस्थित और सर्वाधिक बर्बर शोषण-दमन के शिकार दलित देश की कुल आबादी के करीब 30 प्रतिशत हैं और इनमें से 90 प्रतिशत ग्रामीण और शहरी सर्वहारा-अर्द्ध सर्वहारा की कतारों में शामिल हैं। इनमें यदि पिछड़ी जाति के ग़रीबों और जनजातियों को भी जोड़ दें तो यह कुल आबादी की आधी से भी अधिक हो जायेगी। भारत में समाजवाद के लिए संघर्ष तभी आगे बढ़ सकता है, जब आबादी का यह हिस्सा सम्पूर्ण जनता की मुक्ति और स्वतंत्रता-समानता की वास्तविक स्थापना की परियोजना के रूप में उसे अंगीकार करे। दूसरी ओर, समाजवादी क्रान्ति परियोजना से जुड़े बिना दलित-मुक्ति का प्रश्न और जाति-विभेद का सम्पूर्ण प्रश्न भी असमाधानित बना रहेगा तथा समाजवादी क्रान्ति को जीवन के हर क्षेत्र में दीर्घावधि तक लगातार चलाये बिना समाज को उस मुकाम तक पहुँचाया ही नहीं जा सकता जब जाति, धर्म या लिंग के आधार पर किसी भी तरह की असमानता या उत्पीड़न बचा ही नहीं रह जायेगा।

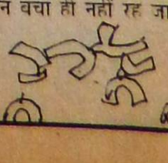

विकास की नज़ीर बने चीन में बढ़ती गैर-बराबरी

भारत की नकली कम्युनिस्ट पार्टियाँ आज भी दावा करती हैं कि चीन में अभी भी कम्युनिस्ट सरकार है और वहाँ समाजवाद का निर्माण हो रहा है। लेकिन तथ्य कभी छुपाए नहीं छुपते। 1976 में माओ त्से-तुङ की मृत्यु के बाद चीन में पूँजीवादी राजपलट हुआ। पूँजीवादियों के लिए उस वक्त खुलकर अपना चेहरा दिखाना सम्भव न था इसलिए उन्होंने "समाजवादी सुधारों" के नाम पर नीतियों में कई परिवर्तन किए। दुनिया के कई सच्चे कम्युनिस्ट भी इससे धोखा खा गए। मगर जल्द ही सारी तस्वीर सामने आ गयी। "समाजवादी सुधारों" के नाम पर चीन में जो पूँजीवादी ढाँचा खड़ा करने की कोशिशें की गई हैं, उनसे आज पूरे चीनी समाज में बेचैनी फैली हुई है।

चीन आजकल अखबारों की सुर्खियों में छाया हुआ है। कहा जा रहा है कि चीन की अर्थव्यवस्था बहुत तेजी से विकास कर रही है। लेकिन किस वर्ग का विकास? किसी भी समाज देश के विकास को देखने के आज के समय में दो नजरिए हो सकते हैं। एक नजरिया पूँजीपति वर्ग का है और दूसरा मज़दूर वर्ग का। चीन की अर्थव्यवस्था जो रूप ले रही है उसे पूँजीपति वर्ग का नजरिया "विकास" कहता है जबकि मज़दूर वर्ग का नजरिया कहता है कि चीन में हुए ये परिवर्तन चीनी मज़दूर वर्ग और अन्य मेहनतकश जनता के लिए लूट, बदहाली, आर्थिक गैर-बराबरी के सिवा कुछ नहीं।

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की चीनी मानव विकास रिपोर्ट 2005 (जो कि चीनी अर्थशास्त्रियों द्वारा तैयार की जाती है) के अनुसार 1980 के बाद हुए आर्थिक सुधारों के कारण वहाँ बहुत तेजी से आर्थिक गैर-बराबरी फैली है, खास कर 1990 के बाद, जबसे चीन की अर्थव्यवस्था को पूँजीवाद के लिए बहुत ज्यादा खोल दिया गया है। इस रिपोर्ट में भी यह तथ्य छुपाया नहीं जा सका है कि 1970 से 1980 तक आर्थिक गैर-बराबरी कम हो रही थी जबकि 1980 के बाद यह बहुत ज्यादा बढ़ी है।

पूँजीवाद की विशेषता है कि यह गाँवों और शहरों के बीच गैर-बराबरी की गहरी खाई पैदा करता है। चीन में हुए पूँजीवादी आर्थिक सुधारों की "बदौलत" आज चीन उन देशों में गिना जाता है जिनमें गाँवों और शहरों में गैर-बराबरी सबसे ज्यादा पाई जाती है। सन 2002 में चीन के गाँवों और शहरों की प्रति व्यक्ति औसतन आय का अनुपात 1:3.11 था। अगर शहरों में मिलने वाली बाकी सुविधाओं के मुताबिक देखा जाए तो ये अनुपात 1:4 तक भी पहुँच जाता है। आम तौर पर चीन में कुछ खास क्षेत्र ही आर्थिक तौर पर "विकास" कर रहे हैं। यह असमान विकास पूँजीवाद का मूल लक्षण है। चीन में होने वाला विदेशी निवेश भी उन क्षेत्रों में ही होता है जो पहले ही कुछ विकास कर चुके हैं।

"विकास" के इस नये मॉडल के उलट माओ के नेतृत्व वाले समाजवादी चीन में एक केन्द्रीकृत बजट होता था और अलग-अलग क्षेत्रों में संसाधनों का इस प्रकार बँटवारा होता था कि सभी क्षेत्रों का बराबर विकास हो। इस वजह से उस वक्त, मज़दूर वर्ग के नजरिए से चीन सचमुच विकास की राह पर था। पूँजीपति वर्ग के सत्ता में आने के कारण राज्य के मालिकाने वाले उद्यमों का मुनाफ़ा लगातार घटा है। चीन की सरकार आज जनता को दी जाने वाली सुविधाओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन आदि में से लगातार अपने पैर पीछे खींच रही है। सी.पी.आई. और सी.पी.आई. (एम.) जैसी भारतीय संशोधनवादी पार्टियाँ जिसे "समाजवादी चीन" कहती हैं वहाँ बेरोज़गारी लगातार बढ़ रही है। राबर्ट वील (एक अमरीकी लेखक) द्वारा लिखी किताब "रेड कैट, व्हाइट कैट" में ये खुलासा किया गया है कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के बहुत से लीडर करोड़पति बन चुके हैं। धीरे-धीरे चीनी जनता को "मार्क्सवाद" के नाम पर की जा रही इस धोखाधड़ी का पता चलता जा रहा है। फोर्ब्स एशिया की रिपोर्ट के मुताबिक आज चीन में दस अरबपति है, जबकि इस रिपोर्ट के एक साल पहले यह संख्या तीन थी! इसका क्या मतलब है? इसका मतलब है पूँजीवाद। मार्क्सवाद के नाम पर मज़दूर वर्ग और अन्य मेहनतकश जनता को धोखा देने वाले माकपा-भाकपा समेत अन्य मज़दूर वर्ग की गद्दार पार्टियाँ कभी नहीं चाहेंगी कि लोगों को ये सच्चाई पता चले। वे तो चाहती हैं जनता को बेवकूफ बनाना और चीन को समाजवादी कहते हुए, इसके बहाने पश्चिम बंगाल समेत अन्य राज्यों में चलाई जा रही अपनी पूँजीवादी नीतियों को जारी रखना। चीन के बहाने वे अपनी पार्टी कतारों को गुमराह करते हैं और केन्द्र में कांग्रेस आदि जैसी पूँजीवादी पार्टियों की सरकारों को उनकी तमाम मज़दूर विरोधी नीतियों के बावजूद समर्थन जारी रखते हैं।

—लखविन्दर

क्रान्तिकारी विकल्प के साथ आगे बढ़ो!

(पेज 1 से आगे)

तमाशे की तैयारियों के मद्देनज़र सभी पार्टियाँ और गठबन्धन वोटरों को पटाने, फोड़ने-फाँसने, सेंधमारी करने, बिनाने अवसरवादी जोड़-तोड़ के इसी दाँवघात में लगी हुई हैं। व्यापक आम मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी से जुड़े किसी भी अहम मुद्दे—देशी-विदेशी पूँजी की बर्बर लूट, छँटनी-तालाबन्दी और रोज़गार-शिक्षा के अधिकार आदि—को गम्भीर चुनावी मुद्दा बनाने के बारे में इन पार्टियों से अब कोई उम्मीद भी नहीं करता।

इस स्थिति में सबसे शातिराना सियासी जाल बिछाते हुए वी.पी. सिंह नज़र आ रहे हैं। व्यवस्था के कुछेक सबसे शातिर राजनीतिक नुमाइन्दों में से एक वी.पी. सिंह ने भूमण्डलीकरण की आर्थिक नीतियों से गरीब मेहनतकश आबादी—मज़दूरों-किसानों-आदिवासियों और बेरोज़गार नौजवानों—के भीतर गहराते असन्तोष की आग पर पानी के छींटे डालने की सोची-समझी रणनीति के तहत 'सरकार नहीं जमाना बदलने आये हैं' का नारा उछाला है। जगह-जगह रैलियाँ हो रही हैं और अपने निहित राजनीतिक स्वार्थों से मुलायम सिंह-अमर सिंह की "समाजवादी" जोड़ी से छिटके सिने अभिनेता राजबब्बर सहित राम विलास पासवान की लोक जनशक्ति पार्टी, लालू प्रसाद, उदित राज की इण्डियन जस्टिस पार्टी, मौलाना कल्बे ज्वाद की नवगठित पार्टी से लेकर व्यवस्था के लिए सेफ्टीवाल्व बने कई एन.जी.ओ. मार्का जनान्दोलन की ताकत भी तीसरे मोर्चे की इस कवायद को मजबूती दे रही है। वी.पी.सिंह की इस नई राजनीतिक बाजीगरी के साथ ही तमाम सरकारी-संसदीय वामपन्थी पार्टियाँ भी खड़ी होती नज़र आ रही हैं। भाकपा (माले) के अखिलेन्द्र प्रताप सिंह और भाकपा के ए.बी. वर्धन जनमोर्चा-जनदल की रैलियों को सम्बोधित कर व्यवस्था की नयी सुरक्षा-बाड़ बनाने की तैयारियों में भरपूर मदद दे रहे हैं। माकपा के नेता उत्तर प्रदेश में मुलायम का साथ दें या तीसरे मोर्चे की कवायद का—इस सवाल पर अभी दुविधाग्रस्त हैं लेकिन यह तय है कि देर-सबेर वे भी इसी जमात के साथ खड़े नज़र आयेंगे। वी.पी. सिंह के साथ संसदीय वामपन्थियों की यह गोलबन्दी बेहद स्वाभाविक है। आज दुनिया भर में पूँजीवाद-साम्राज्यवाद की नयी हिफाजती चौकियों का निर्माण करने में इन सामाजिक जनवादियों (कथनी में समाजवादी करनी में पूँजीवादी) की जबर्दस्त भूमिका बनी हुई है। यह अनायास नहीं है कि दुनिया के पैमाने पर चीन और देश के पैमाने पर पश्चिम बंगाल आज विदेशी पूँजी के लिए सबसे सुरक्षित ठिकाना बन रहा है।

उत्तर प्रदेश का विधानसभा चुनाव शासक वर्गों की राजनीति के लिए इसी कारण अहम बन गया है कि इसके नतीजे आने वाले दिनों में गैर कांग्रेस-गैर भाजपा विकल्प का स्वरूप निर्धारित करने के लिए बेहद अहम है। अगले तीन सालों में जब मनमोहन सरकार भूमण्डलीकरण की आर्थिक नीतियों के बचे-खुचे कदमों को निर्णायक रूप से आगे बढ़ाते हुए, घपलों-घोटालों के नये-नये भण्डाफोड़ों से बुरी तरह बदनाम होकर जनता की नज़रों से पूरी तरह उतर जायेगी तो शासक वर्गों का राजनीतिक खेवनहार कौन बनेगा इसे निर्धारित करने में उत्तर प्रदेश के चुनावों की अहम भूमिका बन रही है। कांग्रेस के पास मनमोहन सिंह को बलि का बकरा बनाने और सोनिया-राहुल-प्रियंका के करिश्मे के अलावा कोई विकल्प नहीं बचेगा। भारतीय जनता पार्टी के राजनीतिक सितारों को गर्दिशों से बाहर निकालने में कौन-सा राजनीतिक-धार्मिक कर्मकाण्ड मददगार होगा, इसपर अभी संघ परिवार के रणनीतिक विशारद रिसर्च ही कर रहे हैं। ऐसे में वी.पी. सिंह की तीसरे मोर्चे की कवायद रंग ला सकती है। तब तक अर्जुन सिंह को भी सही ठिकाना समझ में आ जायेगा।

शासक वर्गों के राजनीतिक नुमाइन्दों की इन कवायदों के बारे में **हावर्ड फास्ट** ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास **'स्पार्टकस'** में बड़े दिलचस्प और आँखें खोलने वाले अन्दाज में लिखा है। उपन्यास में रोमन साम्राज्य का एक घाघ राजनीतिक नुमाइन्दा ग्रेकस शासक वर्गों की राजनीतिक चालों के मर्म को बयान करते हुए सिसेरो से बड़ी साफगोई से कहता है : *"हम जादूगर हैं। हम भ्रम की चादर फैला देते हैं और वह ऐसा भ्रम होता है जिससे कोई बच नहीं सकता। हम लोगों से कहते हैं, जनता से कहते हैं—तुम्हीं शक्ति हो। तुम्हारा वोट ही रोम की शक्ति और कीर्ति का स्रोत है। सारे संसार में केवल तुम्हीं स्वतंत्र हो। तुम्हारी स्वतंत्रता से बढ़कर मूल्यवान कोई भी चीज़ नहीं है, तुम्हारी सभ्यता से अधिक प्रशंसनीय कुछ भी नहीं है। और तुम्हीं उसका नियंत्रण करते हो; तुम्हीं शक्ति हो। और तब वे हमारे उम्मीदवार के लिए वोट दे देते हैं। वे हमारी हार पर आँसू बहाते हैं और हमारी जीत पर खुशी से हँसते हैं और अपने ऊपर गर्व अनुभव करते हैं,... चाहे वे नालियों में ही क्यों न सोते हों,... चाहे उनकी बसर खैरात पर ही क्यों न होती हो... और सिसेरो यह मेरी विशेष कला है। राजनीति को कभी तुच्छ न समझना।..."*

ऐसा नहीं है कि शासक वर्गों के राजनीतिज्ञों की इन कवायदों के बारे में देश की आम जनता आज भी पूरी तरह अनजान बनी हुई है। उसका बड़ा हिस्सा आज इनकी असलियत को अच्छी तरह समझता है। इसलिए लगभग पचास फीसदी वोटर आज वोट डालने जाते ही नहीं। जो लोग वोट डालने जाते भी हैं वे भी इसलिए नहीं कि उन्हें सचमुच कोई उम्मीद होती है। ज्यादातर लोगों की सोच यही होती है कि जब सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं तो क्यों न अपने ही किसी जाति-बिरादर या मजहब वाले को वोट दे दिया जाये। यह विकल्पहीनता की वोटिंग होती है। सच यही है कि अधिकांश मेहनतकश जनता बदलाव चाहती है, और किसी क्रान्तिकारी विकल्प के लिए बेचैन है। इसलिए मेहनतकश जनता की हिरावल ताकतों को अपनी कोशिशें तेज़ कर देनी चाहिए। उन्हें जनता के सामने न केवल शासक वर्गों की राजनीति की असलियत को ठोस ढंग से बेनकाब करना चाहिए वरन क्रान्तिकारी विकल्प का ठोस खाका प्रस्तुत करना चाहिए।

आने वाले दिनों में मेहनतकश अवाम का जो इंक़लाबी हिरावल ग्रुप अपने प्रचार एवं आन्दोलन की कार्रवाइयों के जरिये क्रान्तिकारी विकल्प को ठोस व्यावहारिक ढंग से उभारेगा उसी के इर्दगिर्द व्यापक मेहनतकश जनता की लामबन्दी होगी। यह निश्चित है। देश का मौजूदा पूँजीवादी जनतंत्र अब देश की जनता को तबाही-बेकारी और लाठी-गोली-जेल के सिवा कुछ नहीं दे सकता। इसलिए मेहनतकश जनता के सच्चे जनतंत्र के लिए क्रान्तिकारी संघर्षों को आगे बढ़ाना ही एकमात्र विकल्प है। जब तक यह संघर्ष निर्णायक रूप से शासक वर्गों की राजनीति पर बढ़त नहीं कायम करेगा तब तक इसी व्यवस्था के दायरे में नये-नये राजनीतिक विभ्रमों की गुंजाइशें पूरी तरह खत्म नहीं होंगी।

हदिथा में अमेरिकी सैनिकों का नृशंस जनसंहार

जनता के खून के एक-एक कतरे का हिसाब देना होगा साम्राज्यवादियों को

मध्य पूर्व में अमेरिकी साम्राज्यवाद की समस्याएँ जैसे-जैसे बढ़ती जा रही हैं उसका क्रूर, वहशियाना और मानवद्रोही चरित्र भी लगातार उजागर होता जा रहा है। हताशा और निराशा में डूबते उतराते लुटेरों की नृशंसता बढ़ती ही चली जा रही है। इराक के मासूम बेकसूर लोगों पर बर्बरता का कहर बरपाने वाले पूँजीवादी-साम्राज्यवादी निजाम से मानवता ने कुछ भी अच्छा पाने की उम्मीदें छोड़ दी हैं। दुनिया भर में और स्वयं अमेरिका के अन्दर चल रहे विशाल जनविरोध के बावजूद बर्बरता के ठेकेदार इराक में अपना खूँटा जमाये हुए हैं। हालाँकि इराक की आम जनता ने प्रचण्ड संघर्ष द्वारा उनकी स्थिति को इतना नाजुक बना दिया है कि न तो वे आगे बढ़ सकते हैं और न सम्मानजनक तरीके से पीछे ही हट सकते हैं। हताशा के इन हालात में साम्राज्यवादी फौजें एक से एक जघन्य अपराध अंजाम दे रही हैं जिसकी नयी कड़ी है हदिथा गाँव की नृशंसतम घटना जिसका बयान एक नौ साल की मासूम बच्ची ने किया।

असीम पीड़ा और व्यथा से भरी आँखों वाली यह बच्ची कहती है, "मुझे अमेरिकियों से सख्त नफरत है। पूरी दुनिया उनके इस कृत्य के लिए उनसे घृणा करती है।"

वह अपनी कहानी बताती है, "उस दिन सुबह 7 बजे जब हम सोकर उठे ही थे कि अमेरिकी सैनिक हमारे घर में घुस आये। पिछली शाम को हमारे घर के पास सड़क पर एक बम विस्फोट हुआ था जिसमें एक अमेरिकी गश्ती दल को नुकसान हुआ था। बाद में मैंने जाना कि एक सैनिक की मृत्यु हो गयी थी। माहौल ठीक न देखकर मैंने उस दिन स्कूल जाने का विचार त्याग दिया था। सैनिक दरवाजे तोड़ते हुए भीतर घुस आये। वे उस कमरे में गये जहाँ मेरे पिता प्रार्थना कर रहे थे और उन्होंने उनकी हत्या कर दी। फिर उन्होंने मेरी दादी को मार डाला। मेरे दादा के पलंग के नीचे उन्होंने ग्रेनेड फेंक दिया। हम सब रो रहे थे। अमेरिकी भी चिल्ला रहे थे।"

यह बच्ची अपने जख्म दिखाती है जिसे वह कभी नहीं भूलेगी। वह उस दिन को भी नहीं भूलेगी जब उसके माता-पिता, दादा-दादी, दो चाचा और एक चचेरे भाई को मार डाला गया। इसके अलावा उस दिन की एक अन्य घटना में दो महिलाएँ और चार बच्चे भी मार डाले गये।

पहले तो अमेरिकी प्रशासन ने तरह-तरह से इस घटना को छुपाने की कोशिश की और अन्त में अफसोस जताने के लिए एक औपचारिक बयान जारी कर दिया। उस बच्ची का कहना है, "पहले वे लोगों को मारते हैं फिर माफ़ी माँगते हैं। मुझे उनसे नफ़रत है।"

नवम्बर 2005 में हदिथा में 24 लोगों की नृशंस हत्याएँ की गयी थीं।

हदिथा की घटना इस तरह की एकमात्र घटना नहीं है। अमेरिकी फौजें इराक में रोज़ इस तरह के कारनामे अंजाम दे रही हैं। फर्क बस इतना है कि इस घटना की वे छुपा नहीं पाये। ब्रिटिश स्रोतों के अनुसार इराक के इशाकी शहर में मार्च की एक घटना में 11 लोगों को मार डाला गया। मारने के बाद लाशों को एक घर में डालकर उसे विस्फोट से उड़ा दिया गया। लेकिन इराकी पुलिस का दावा है कि लोगों को बहुत बेदर्दी से मारने के बाद विस्फोट किया गया। जाँच के लिए लाशों को जिस अस्पताल में ले जाया गया वहाँ के एक पुलिस अधिकारी ने बताया कि सभी लाशों के पेट और सिर में गोलियों के सूराख थे। मरने वालों में एक 75 वर्षीय वृद्धा और उसका 6 महीने का पोता था जिनके अलावा उनमें दो और बच्चे भी थे।

बुश का कहना है कि वह अमेरिकी नृशंसताओं से बहुत परेशान है, पर ऐसा सिर्फ़ इसलिए है क्योंकि हदिथा की सच्चाई प्रकाश में आ गयी। पिछले हफ्ते ही अमेरिकी सैनिकों ने बच्चा जनने के लिए अस्पताल जाती एक गर्भवती महिला और उसकी माँ की हत्या कर दी क्योंकि शायद वे चेकपोस्ट पर गलत लेन में आ गयी थीं। बुश प्रशासन ज्यों ही एक घटना पर सफाई पेश करता है कि दूसरी घटना उसके मत्थे पड़ जाती है।

अमेरिकी सैनिकों पर मानवद्रोही हरकतों के लिए चलाये जा रहे तमाम मुकदमों में थोड़ी-बहुत सुनवाई के बाद उन्हें बरी कर दिया जाता है या एकदम मामूली सजाएँ देकर छोड़ दिया जाता है।

अफगानिस्तान के बगराम एयरबेस में कैदियों को क्रूरतम तरीकों से प्रताड़ित करने वाले और 'प्रताड़ना के बादशाह' के नाम से कुख्यात एक जाँचकर्त्ता को काम पर शराब पीने, मार-पिटाई करने, और काम की उपेक्षा करने के तमाम आरोपों की सजा केवल यह मिली कि उसका पद घटा दिया गया।

अमेरिकी सैनिकों को यह सिखाया जाता है कि वे बर्बरों के खिलाफ़ एक धर्मयुद्ध लड़ रहे हैं। बुश ने भी ऐलान कर दिया है कि वह भगवान के आदेश पर यह युद्ध लड़ रहा है। पूर्व जनरल जैनिस कार्पिन्सकी ने स्वीकार किया है कि अबु गरेब जेल में उसने एक निर्देश देखा था जिसमें लिखा था कि सैनिक कैदियों को अमानवीय स्थिति में डालकर प्रताड़ित करने की तकनीक अपनायें। निर्देश के बगल में हाथ की लिखावट, समझा जाता है कि जो डोनाल्ड रम्सफ़ेल्ड की थी में यह लिखा था कि "सुनिश्चित करो कि ऐसा किया जाता है।" और फिर ऐसा होता भी है।

किस प्रकार का देश अपनी सेना को इतने व्यवस्थित तरीके से नृशंसता, मानवता विरोधी, सामूहिक हत्याओं जैसे कृत्यों का प्रशिक्षण दे सकता है, किस प्रकार की व्यवस्था दुनिया के 130 देशों में अपने सैनिक बेस बनायेगी—हर जगह जहाँ जनता द्वारा इसका विरोध होता है?

यह एक साम्राज्यवादी व्यवस्था ही है। एक लुटेरी व्यवस्था। एक व्यवस्था जो दुनिया के हर कोने में लोगों का शोषण-उत्पीड़न करके उनके सोत-संसाधनों को लूटती है और बदले में उन्हें गोलियाँ, बम, हत्याएँ और हत्यारे सैनिक भेंट करती है। यह शोषण और तबाही का एक वैश्विक नेटवर्क है। एक ऐसा साम्राज्य जो बाजार और मुनाफे के लिए दुनिया के अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ लगातार संघर्ष कर रहा है। यह व्यवस्था दुनिया भर के लोगों के लिए एक खौफ है, उनकी घृणा का पात्र है। मानवता के उज्ज्वल भविष्य के लिए इसे तबाह बर्बाद करना ही होगा। और यह काम दुनिया की सबसे प्रगतिशील सबसे क्रान्तिकारी शक्ति सर्वहारा के हाथों ही सम्पन्न होगा।

— जय

पंजाब सरकार : पूँजीपतियों की सेवक और मजदूरों की शोषक

पिछले दिनों में पंजाब के मुख्यमंत्री कैप्टन अमरिन्दर सिंह ने खेतीबाड़ी, उद्योगों और सेवा क्षेत्र में कई बड़े प्रोजक्टों को स्वीकृति देकर बहुत तारीफ हासिल की है और इसे ऐसे पेश किया जा रहा है जैसे पंजाब को स्वर्ग ही बना दिया जाएगा। मगर इसमें देखने की असल बात यह है कि मेहनतकश लोगों के लिए मुख्यमंत्री ने कौन-सी "सेवाएँ" आरक्षित रखी हैं।

कैप्टन ने पूँजीपतियों के लिए बड़े-बड़े अवसर प्रदान किए हैं और उनके सभी हितों को सुरक्षित रखने के लिए विशेष कानून बनाए हैं। विशेष आर्थिक क्षेत्रों के अधीन, पंजाब के क्षेत्रों में उद्योग लगाने के लिए पंजाब सरकार ने पूँजीपतियों के लिए लुभावनी और लाभदायक स्कीमों का खजाना खोल दिया है। जालंधर, अमृतसर, लुधियाना मोहाली आदि शहरों में बनने वाले विशेष आर्थिक क्षेत्रों में पूँजीपतियों को टैक्सों, चुंगियों के कानूनों से ही सिर्फ़ छूट नहीं होगी बल्कि श्रम कानूनों को भी इन क्षेत्रों से बाहर रखा जाएगा ताकि अपनी जायज माँगों के सम्बन्ध में समय-समय पर उठने वाले मज़दूरों के खड़े होने वाले आन्दोलनों को शान्त करने में आसानी रहे। इन क्षेत्रों में स्थापित होने वाली औद्योगिक इकाइयों को न सिर्फ़ काम-काज के मामले में पूरी छूट होगी बल्कि कस्टम विभाग भी उनकी निगरानी नहीं कर सकेगा। यह कहा जा रहा है कि विदेशी मण्डी के मुकाबले के लिये व्यापारियों और उद्योगपतियों को मुँह-माँगी छूटें और सहूलियतें दी गई हैं।

इन आर्थिक क्षेत्रों में लगने वाले उद्योग पहले पाँच सालों के लिए आयकर

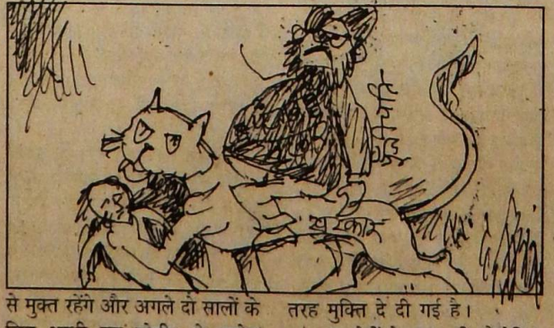

से मुक्त रहेंगे और अगले दो सालों के लिए आधी छूट रहेगी। ये उद्योग आवश्यक मशीनरी, कच्चा माल और अन्य वस्तुओं पर कोई एक्साइज या कस्टम ड्यूटी अदा नहीं करेंगे और विदेश से मँगवाये जाने वाले माल और मशीनरी के लिए लाइसेंस की जरूरत नहीं होगी।

विदेश भेजने वाले और बाहर से आने वाले माल पर कस्टम अधिकारियों द्वारा कोई चैकिंग नहीं की जायेगी। ये उद्योगपति अपना मुनाफ़ा विदेश भी भेज सकेंगे। ये सुविधाएँ तो वे हैं जो केन्द्र सरकार के द्वारा दी जा रही हैं। इसके अलावा राज्य सरकार की मेहरबानी भी आम आदमी का सिर चकराने वाली है। राज्य सरकार द्वारा इन आर्थिक क्षेत्रों वाली कम्पनियों को बिक्री कर, टर्नओवर टैक्स, वैट, चुंगी, खरीद टैक्स और बिजली कर से पूरी तरह मुक्ति दे दी गई है।

इन क्षेत्रों के अन्दर की औद्योगिक इकाइयों के आपस के व्यापार पर कोई टैक्स नहीं होगा और घरेलू बाज़ार में माल बेचे जाने पर टैक्स से मुक्ति रहेगी। इस क्षेत्र में स्थानीय सरकारों और पंचायती राज्य विभाग की कोई दखलंदाजी नहीं होगी, इसका अर्थ यह है कि उजरती मज़दूरों को भूखे भेड़ियों के सामने बिना हथियारों के फेंक दिया जाएगा ताकि ज्यादा से ज्यादा मुनाफ़ा निचोड़ा जा सके और पूँजीपतियों के महलों की ऊँचाई और बढ़ाई जा सके। इसके अधीन चुल्ला टैक्स, हाउस टैक्स, सम्पत्ति टैक्स और बिल्डिंग का नक्शा पास करवाने की भी फीस नहीं ली जाएगी।

विशेष आर्थिक क्षेत्र में पूँजी निवेश करने वाली कम्पनियों को आवश्यक सरकारी मजूरियों को हासिल करने के लिए दौड़-धूप करने की ज़रूरत नहीं, उन्हें तो बस सरकार को जानकारी देनी है, झटपट उनका यह काम भी करवा दिया जाएगा। और तो और सरकार ने वातावरण प्रदूषण को अहम मुद्दा न बनाते हुए पेड़ों की कटाई का काम भी आसान कर दिया है। इस क्षेत्र में आवश्यक पानी प्रदान करने की जिम्मेवारी भी सरकार ही पूरी करेगी और अमन-कानून बनाए रखने का काम भी, ताकि अंधी लूट के खिलाफ़ उठ खड़े होने की हिम्मत करने वालों को सबक सिखाया जा सके। इन क्षेत्रों का मुख्य विकास कमिश्नर ही होगा और उसकी आज्ञा के बिना किसी को भी इन विशेष आर्थिक क्षेत्रों का निरीक्षण करने की आज्ञा नहीं होगी।

एक तरफ तो पंजाब सरकार इन उद्योगपतियों पर इतनी मेहरबान हुई है और दूसरी तरफ उद्योगों में काम करने वाले मज़दूरों को पूँजीपतियों के रहमो करम पर छोड़ दिया गया है और इन उद्योगों में कोई भी श्रम कानून लागू नहीं होगा। प्राप्त जानकारी के अनुसार औद्योगिक विवादों के बारे में 1947 का कानून जिसके तहत राज्य सरकार की सभी शक्तियों जैसे सुलह-सफाई करवानी, औद्योगिक झगड़ों को लेबर कोर्ट भेजना, छँटनियों, ले ऑफ और इकाइयों को बन्द करने की मंजूरी, हड़तालों को गैरकानूनी करार देना, लेबर कोर्ट के प्रमुख अफसरों की नियुक्ति आदि सब कुछ विकास कमिश्नर के हाथ में होगा। इन क्षेत्रों में लगी इकाइयों को पक्के तौर पर जन-सेवाएँ घोषित किया गया है। इन क्षेत्रों में हड़तालें करने की मनाही होगी और हड़ताल होने की सूरत में श्रमिकों को आवश्यक सेवा अधिनियम (एस्मा) की मार झेलनी पड़ेगी।

पूँजीपतियों की राह साफ करते हुए इन क्षेत्रों के अन्दर की इकाइयों को फैक्टरी ऐक्ट की धारा 51, 52 से मुक्त किया गया है। धारा 51 के तहत किसी भी श्रमिक से हफ्ते में 48 घण्टे से ज्यादा काम नहीं लिया जा सकता। धारा 52 के तहत साप्ताहिक छुट्टी जरूरी है। इन धाराओं के खत्म होने का अर्थ है कि श्रमिकों को मालिक जितना चाहे चूस सकते हैं, श्रमिकों के काम के घण्टे भी निश्चित नहीं होंगे।

—राजविन्दर

नारी सभा

रायफल की नाल अपनी ओर नहीं, गैरबराबरी पर टिकी व्यवस्था की ओर मोड़ो

आजकल एक सामान्य सी बात तथाकथित पढ़े-लिखे लोगों के बीच सुनने को मिलती है कि आज औरत के लिए हर तरफ का दरवाजा खुला हुआ है, वो जो चाहे वो कर सकती है, अजी अब औरत गुलाम कहाँ रह गयी सेना से लेकर चाँद तक हर जगह जा सकती है! ऊपर से देखने में यह बात सच लगती है लेकिन जैसे ही आप इसकी गहराई में उतरते हैं इसके पीछे की नंगी सच्चाई हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती है इसका एक ताजा उदाहरण है सेना की महिला अधिकारी सुष्मिता चक्रवती की आत्महत्या।

सैन्य बलों में किसी महिला की आत्महत्या की इस घटना के पीछे की सच्चाई आँख खोल देने वाली है कि ऊँचे से ऊँचे ओहदे पर मौजूद औरत अपने औरत होने के अभिशाप से मुक्त नहीं है, यह पुरुषवादी समाज उसे उसकी औकात बता देता है।

ऊधमपुर जिले के उत्तरी कमान के मुख्यालय में विगत 16 जून को लेफ्टिनेंट सुष्मिता चक्रवर्ती ने अपने को गोली मार कर उन सभी तनावों से मुक्ति पा ली जिसे वह पिछले कई महीनों से झेल रही थी। सुष्मिता की माँ ने बताया कि वह कार्यस्थल पर कुछ समस्याओं के बारे में शिकायत करती थी। उन्होंने कहा कि सुष्मिता सेना की नौकरी से इस कदर परेशान थी कि वह पहले भी घर पर दो बार आत्महत्या का प्रयास कर चुकी है। बताते हैं कि सुष्मिता आत्महत्या से दो माह पूर्व अपने घर भोपाल गई थी और नौकरी छोड़ने की बात कर रही थी लेकिन माँ ने उसे नौकरी न छोड़ने के लिए राजी किया और यहाँ तक कि उसके साथ ही उसकी तैनाती की जगह उत्तरी कमान मुख्यालय आयी। इतना सब होने के बाद भी उन तनावों को सुष्मिता झेल नहीं पायी और एक सिपाही की रायफल से अपने को गोली मार ली।

आखिर क्या था वो तनाव? इसे आसानी से समझा जा सकता है। एक औरत होने का तनाव, जिसकी पीड़ा झेलते-झेलते सुष्मिता हार गयी। उसके इस तनाव को समझने वाला कोई नहीं था, उसकी माँ भी नहीं। और वह बेबस हो गयी, उस हालात से लड़ने का साहस उसने खो दिया और अपने को ही सजा सुना दी।

सरकारी सूत्रों के अनुसार सुष्मिता चक्रवती अपनी नौकरी को लेकर अवसाद में थी और इस्तीफा देना चाहती थी। लेकिन माँ ने उसे नौकरी छोड़ने की अनुमति नहीं दी जिसकी वजह से उसने आत्महत्या जैसा कदम उठाया।

यह अपने आप में सेना में कार्यरत महिलाओं के साथ घटने वाली कोई पहली घटना नहीं इसके पहले भी कुछ ही महीने पहले एक और महिला अधिकारी के साथ यौन उत्पीड़न की घटना सामने आ चुकी है जिसके खिलाफ़ उस महिला ने आवाज़ उठायी थी जिस पर उस महिला का तरह-तरह से मानसिक अत्याचार किया गया। उक्त महिला अधिकारी फ्लाइंग आफिसर अंजलि गुप्ता को कोर्ट मार्शल के बाद सेना से बर्खास्त कर दिया गया। अखबारों-पत्रिकाओं में प्रमुखता के साथ छपी सेना में महिला उत्पीड़न की यह घटना अचानक कैसे अखबारी पन्नों से गायब हो गयी, यह अभी एक रहस्य बना हुआ है। इसके पीछे के कारणों को सहज ही समझा जा सकता है। वायु सेना की कैडेल प्रीति बहल, सरबजीत जस और अंशु सिंह को मुअत्तल कर दिया गया। इन तीनों महिला अधिकारियों ने आरोप लगाया था कि उनके प्रशिक्षक ने फिटनेस सर्टिफिकेट देने के लिए यौन सम्पर्क की पेशकश की थी। इसी तरह से असिटेण्ट जेएजी मेजर डिंपल के खिलाफ भी अनुशासनात्मक कार्रवाई की गयी। महिला अधिकारी लेफ्टिनेण्ट जिज्जी यू.के., एयर डिफेंस रेजिमेण्ट की लेफ्टिनेण्ट इमान, कैप्टन रजनी शर्मा और लेफ्टिनेण्ट कौशिक सहित कई महिला अधिकारियों के यौन उत्पीड़न की चर्चा अखबारों के पन्ने पर आ चुकी है।

सुष्मिता के आत्महत्या की खबर छपने के साथ ही सेना में महिलाओं के साथ हो रहे उत्पीड़न का जवाब देते हुए उपथल सेना प्रमुख लेफ्टिनेंट जनरल पद्माभिरामन का पहला बयान आता है कि सेना बिना महिला अधिकारियों के भी काम चला सकती है। यह है तथाकथित पढ़े-लिखे, ऊँचे ओहदे पर विराजमान तथा देश के खेवनहारों के स्त्री के प्रति बहुमूल्य विचार।

जिस देश का सेना प्रमुख स्त्रियों के प्रति ऐसे विचार रखता हो, उसके मातहत काम करने वाली (चाहे वो अधिकारी स्तर की ही क्यों न हो) महिलाओं के साथ क्या रवैय्या अपनाया जाता होगा इसे सहज ही सोचा जा सकता है। ऐसी सोच से भरे लोगों के साथ एक घुटनभरे माहौल में काम करते हुए स्त्रियों को किन यंत्रणाओं का सामना करना पड़ता है, समझा जा सकता है और मानसिक यंत्रणा में जीते-जीते सुष्मिता जैसी स्त्रियाँ उस अवस्था में जा पहुँचती हैं जब उन्हें मौत को वरने के सिवा और कोई रास्ता नहीं दिखाई देता है।

सेनाप्रमुख के वक्तव्य पर उपजे विवाद को शान्त करने की नीयत से स्त्रियों की बराबरी के नये हिमायती रक्षामंत्री प्रणव मुखर्जी ने सेना में महिलाओं की भूमिका पर एक बहस छेड़ दी है और उन तीन सेना प्रमुखों को यह दायित्व सौंपा है (जिनमें से एक का विचार ऊपर उद्धृत किया जा चुका है) कि वे पता लगाये कि महिला सैन्य अधिकारियों को लड़ाकू कार्यों में लगाये जाने की क्या सम्भावना है? यह हुई न चित्त भी मेरी पट्ट भी मेरी।

फिलहाल स्त्रियों के साथ होने वाले यह भेदभावपूर्ण व्यवहार केवल सेना में ही नहीं हर जगह है। अभी आइटम गर्ल राखी सावंत के साथ हुई घटना इसका ताजा उदाहरण है।

एक हिंस्र परिवेश के तनाव में जीना कठिन है। दफ्तर के कामों के बोझ में, अफसर की झिड़की या सहयोगियों के क्षुद्र दाँव-पेंच एवं ईर्ष्या के बीच या किसी भी तरह के तनाव या आतंक के बीच कुछ भी रचनात्मक कर पाना बहुत कठिन है। यहाँ एक ऐसे हिंसक तनाव की बात की जा रही है जिसका शिकार औरत को केवल औरत को होना पड़ता है फिर वो औरत चाहे बहुत ऊँचे ओहदे पर विराजमान हो या सबसे निचले पायदान पर।

यूँ तो एक औरत को राह चलते केवल निगाहों से भी अपमानित किया जा सकता है। भद्रजनों के बीच उसको इस तरह से अपमानित करने की मौन प्रक्रिया घटित हो सकती है। कदम-कदम पर होने वाले इस अपमान को निरुपाय बर्दाश्त भी किया जाये और आदी भी न हुआ जाये—वाकई बहुत कठिन है।

दबाव और भी है, मसलन अपवाद के तौर पर परिवार साथ भी दे तो सामाजिक तंत्र का दबाव बना ही रहता है—घर से लेकर बाहर तक। परिवार, परिजन, मित्र सभी अनजाने ही उन अपेक्षाओं से हमें कभी भी मुक्ति नहीं देते जो उन्हें औरत जात से होती है। इस हिंसक तनाव की निरन्तर मौजूदगी हर स्वतंत्रचेता स्त्रियों के समक्ष भी मौजूद रहता है और वह निरन्तर एक युद्ध की मानसिकता में जीती होती हैं।

इन सारे मुद्दों पर राष्ट्रीय महिला आयोग से लेकर रक्षा मंत्री तक चिन्तित नज़र आ रहे हैं और जैसे ही मामला शान्त होगा, इनकी चिन्ता भी गायब हो जायेगी।

उपरोक्त घटनाओं से एक बात फिर साबित होती है कि पूँजीवादी जनतंत्र के तहत स्त्रियों को समानता का अधिकार नहीं मिल सकता। इस पूँजीवादी जनतंत्र के भीतर एक पुरुषप्रधान समाज में स्त्रियों की स्थिति दोयम दर्जे की ही है, (चाहे वो किसी भी वर्ग से आती हो) और उसे इसका सामना करते हुए अपने बराबरी के हक की लड़ाई लड़नी होगी। बराबरी और समानता का अधिकार स्त्रियों को तोहफे में नहीं मिलने वाला, उन्हें इसके लिए संगठित होकर समाजवाद के लिए संघर्ष करना होगा, तब जाकर उन्हें समता, बराबरी व न्याय का अधिकार मिलेगा। सुष्मिता जैसी तमाम स्त्रियों को रायफल की नाल अपनी ओर नहीं इस लूट और गैरबराबरी पर टिकी व्यवस्था की ओर मोड़नी होगी।

- बागेश्वरी

अमेरिका में स्त्री मज़दूरों के श्रम की लूट

दुनिया भर में वैभव और ऐश्वर्य की मिसाल के रूप में प्रसिद्ध अमेरिका की चमक-दमक के पीछे की सच्चाई अत्यन्त घृणास्पद और दिल दहलाने वाली है। पूरी दुनिया को लूट कर अपनी जनता को खुशहाल रखने का अमेरिकी कारनामा भी बदलते समाज में अपना स्वरूप खो बैठा है। अब तो अमेरिकी जनता भी अपने देश के शासक वर्ग का दोगला चरित्र और अपने जीवन के यथार्थ को ठीक से पहचानने के लिए मजबूर हो गयी है। शासक वर्गों द्वारा मानवाधिकारों की उपेक्षा और जिल्लत भरे काम और काम की घिनौनी परिस्थितियाँ अमेरिका के साथ-साथ पूरे विश्व की जनता के आँख खोल रही हैं। कैटरीना तूफ़ान ने अमेरिकी शासक वर्ग के मानवद्रोही चरित्र को उजागर कर ही दिया था, बिगुल के पिछले अंकों में अमेरिकी श्रम कानूनों (या इसे कानून का मजाक कहें) के मेहनतकश-विरोधी स्वरूप पर भी तथ्य प्रकाशित हुए थे। इस रिपोर्ट में हम अमेरिका में महिला कर्मचारियों के लिए लगातार कम होती नौकरियों और पगारों की एक तस्वीर पेश करेंगे।

अमेरिका की जनसंख्या 29 करोड़ 80 लाख से थोड़ी ज्यादा है। 2004 में 6 करोड़ 47 लाख अमेरिकी महिलाएँ नौकरीपेशा थीं। महिलाएँ अमेरिका की नौकरीपेशा आबादी का 46 प्रतिशत थीं लेकिन कुल अस्थायी कर्मियों में महिलाओं का प्रतिशत 58.5 था, यानी आधे से भी ज्यादा। 74 प्रतिशत महिलाएँ पूर्णकालिक और 26 प्रतिशत पार्ट टाइम काम करती थीं। 25-54 वर्ष के आयु वर्ग में 30 प्रतिशत महिलाएँ पार्ट टाइम करती थी जिसकी तुलना में इसी आयु के सिर्फ़ 13 प्रतिशत पुरुष पार्ट टाइम करते थे। पार्ट टाइम करने वाली महिलाओं की प्रति घण्टा पगार फुल टाइम करने वाली महिलाओं से 20 प्रतिशत कम है। महिलाओं में बेरोज़गारी का आँकड़ा 2000 में 4.1 प्रतिशत से बढ़कर 2004 में 5.4 हो गया। गैरसरकारी आँकड़ा इससे भी अधिक है क्योंकि इस संख्या में वे महिलाएँ शामिल नहीं हैं जो पार्ट टाइम करती हैं मगर फुलटाइम करने की इच्छा रखती हैं और जो महिलाएँ एक वर्ष तक नौकरी ढूँढ़ने के बाद अब घर बैठ गयी है उन्हें शामिल नहीं किया गया है। 30 प्रतिशत हिस्पैनिक और 27 प्रतिशत अफ्रीकी मूल की महिलाएँ कम पगार वाले उद्योगों में काम करती हैं जिनकी तुलना में सिर्फ़ 19 प्रतिशत गोरी महिलाएँ ऐसे उद्योगों में कार्यरत हैं। एशियाई अमेरिकी महिलाओं की एक असामान्य बड़ी संख्या कम पगार वाले गारमेण्ट उद्योगों में कैलिफोर्निया की सिलीकन वैली की हाईटेक काट्रैक्ट असेम्बली इकाइयों में कार्यरत हैं। महिलाओं और खासकर अश्वेत महिलाओं की संख्या तकनीकी, इंजीनियरिंग और विज्ञान से जुड़ी अधिक वेतन वाली नौकरियों में बहुत कम है। विभिन्न पेशों में महिलाओं की संख्या इस प्रकार है : प्रॉफेशनल, मैनेजमेण्ट और सम्बन्धित पेशों में 37.7 प्रतिशत, सेवा क्षेत्र में 19.9 प्रतिशत, सेल्स, ऑफिस और प्रशासनिक सहयोग में 35 प्रतिशत, उत्पादन और परिचालन में 6.4 प्रतिशत, प्राकृतिक स्रोत, निर्माण और रखरखाव में 1 प्रतिशत।

प्रत्येक तीन में एक से अधिक महिलाओं के काम के घण्टे असामान्य हैं। अमेरिकी जनगणना ब्यूरो की रिपोर्ट के अनुसार घण्टे की दर से काम करने वाली 13 लाख महिलाओं की आय संघीय न्यूनतम मज़दूरी से कम है। 2004 में एक ही काम के लिए जहाँ पुरुषों को एक डॉलर मिलता था वहीं महिलाओं को 75 सेण्ट। 1983 में 18 प्रतिशत महिलाएँ यूनियनों में सक्रिय थीं 2001 में यह संख्या गिरकर 12.5 रह गयी। 2003 में अस्थायी नौकरियों में 9 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि कुल नौकरियों में सिर्फ़ 1. 2 की वृद्धि हुई। सितम्बर 2001 के बाद विनिर्माण के क्षेत्र में 27 लाख नौकरियाँ कम हुई हैं।

दुनिया की सबसे बड़ी खुदरा क्षेत्र की कम्पनी वालमार्ट पर महिलाओं को वेतन न देने और बिना विश्राम दिये लगातार काम करवाने के लिए अमेरिका के 6 राज्यों में मुकदमा चलाया गया है। यह कम्पनी निम्न स्तर की स्वास्थ्य बीमा उपलब्ध कराती है और बच्चों की देखभाल का कोई प्रबन्ध नहीं करती। इसके साथ ही यह यूनियनों का विरोध करने के लिए कुख्यात है। दूसरे खुदरा सुपरमार्केट भी इस कम्पनी का अनुसरण करने लगे हैं। अमेरिका के कई राज्यों में नर्सों को ओवरटाइम करने के लिए मजबूर किया जा रहा है। अमेरिका के अमेरिकन समोआ और उत्तरी मरीना द्वीपों के कपड़ा उद्योगों में काम करने वाली महिलाओं को मुश्किल से पेट भरने लायक आहार दिया जाता है और वालमार्ट जैसी कम्पनियों के लिए कपड़ा बनाने के लिए उनकी मार-पिटाई भी की जाती है।

यूनियनों से जुड़ी महिलाकर्मियों की पगार यूनियनों से असम्बद्ध महिलाओं से 34 प्रतिशत अधिक है। 86 प्रतिशत यूनियनकर्मियों को स्वास्थ्य सुविधाएँ प्राप्त हैं जबकि सिर्फ़ 59.5 प्रतिशत गैर यूनियनकर्मी ही यह लाभ उठा पाती हैं।

जनवरी 2006 में कई महीनों के संघर्ष के बाद और जून 2005 में तीन दिन की हड़ताल के बाद बच्चों की देखभाल करने वाली 7000 महिलाओं ने वेतन में 12 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हासिल की। न्यूयार्क सिटी के 34,000 परिवहन कर्मियों की 3 दिन की जबरदस्त हड़ताल को एक न्यायाधीश के तानाशाहीपूर्ण आदेश के बाद अचानक वापस ले लिया गया।

अमेरिका में श्रम और पूँजी के बीच के समझौते अब भूमण्डलीकरण के साथ टूटने लगे हैं। गौरवशाली संघर्षों के बाद मज़दूरों द्वारा अर्जित किये गये तमाम अधिकार अब फिर उनसे वापस छीन लिये गये हैं। अब वहाँ के मज़दूर भी यूनियनों और संगठनों की जरूरत महसूस करने लगे हैं। पूँजीवाद के दुर्ग के भीतर से भी संघर्ष की आवाजें सुनाई देने लगी हैं। यह साबित करता है कि दुनिया के मज़दूर एक हैं और उनका दुश्मन भी एक है।

– जयपुष्प

कविता

जनता की रोटी

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

इंसाफ जनता की रोटी है
वह कभी काफी है, कभी नाकाफी
कभी स्वादिष्ट है तो कभी बेस्वाद
जब रोटी दुर्लभ है तब चारों ओर भूख है
जब बेस्वाद है, तब असन्तोष।

खराब इंसाफ को फेंक डालो
बगैर प्यार के जो भूना गया हो
और बिना ज्ञान के गूंदा गया हो!
भूरा, पपड़ाया, महकहीन इंसाफ
जो देर से मिले, बासी इंसाफ है!

यदि रोटी सुस्वाद और भरपेट है
तो बाकी भोजन के बारे में माफ
किया जा सकता है
कोई आदमी एक साथ तमाम चीजें
नहीं छक सकता।

इंसाफ की रोटी से पोषित
ऐसा काम हासिल किया जा सकता है
जिससे पर्याप्त मिलता है।

जिस तरह रोटी की जरूरत रोज़ है
इंसाफ की ज़रूरत भी रोज़ है
बल्कि दिन में कई-कई बार भी
उसकी ज़रूरत है।

सुबह से रात तक, काम पर,
मौज लेते हुए
काम, जो कि एक तरह का उल्लास है
दुख के दिन और सुख के दिनों में भी
लोगों को चाहिए
रोज़-ब-रोज़ भरपूर, पौष्टिक,
इंसाफ की रोटी।

इंसाफ की रोटी जब इतनी
महत्वपूर्ण है
तब दोस्तो कौन उसे पकायेगा?
दूसरी रोटी कौन पकाता है?
दूसरी रोटी की तरह
इंसाफ की रोटी भी
जनता के हाथों ही पकनी चाहिए
भरपेट, पौष्टिक, रोज़-ब-रोज़।

रपट : स्मृति संकल्प यात्रा

भगतसिंह द्वारा जलायी गयी जनमुक्ति की मशाल को हर कीमत चुकाकर भी जलाये रखेंगे।

लखनऊ। जी.पी.ओ. स्थित काकोरी स्तम्भ पर मशाल प्रज्वलित कर 'स्मृति संकल्प यात्रा' से जुड़े क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं ने विगत 20 जून को उपस्थित जनसमुदाय और दसों दिशाओं को साक्षी मानकर शपथ ली कि वे भगतसिंह और उन अमर शहीद क्रान्तिकारियों द्वारा जलायी गयी जनमुक्ति की मशाल को हर कीमत चुकाकर भी जलाये रखेंगे। और जबतक इंसानों द्वारा इंसानों का शोषण समाप्त नहीं होगा तबतक वे चैन की साँस नहीं लेंगे। उन्होंने यह भी शपथ ली कि भगतसिंह और उन तमाम क्रान्तिकारी साथियों की स्मृति को कलंकित करने वाली सरकारी-गैरसरकारी कोशिशों को जनता के बीच लगातार उजागर करते रहेंगे और सही वैचारिक विरासत से जनता को परिचित कराते रहेंगे।

उक्त शपथ विगत 9 जून से लखनऊ में चलाये जा रहे 'स्मृति संकल्प यात्रा' के एक चरण के समापन (20 जून) के अवसर पर ली गयी। मालूम हो कि भगतसिंह और क्रान्तिकारियों के विचारों को जन-जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से 'दिशा छात्र संगठन' और 'नौजवान भारत सभा' की ओर से 23 मार्च 2005 से ही पूरे देश भर में 'स्मृति संकल्प यात्रा' की टोलियाँ निकली हुई हैं। इसी दिन भगतसिंह की शहादत का 75वाँ वर्ष पूरा हुआ था। यह यात्रा तीन वर्ष तक चलेगी और इसका समापन भगतसिंह के सौंवे जन्मदिन 28 सितम्बर 2008 को होगा।

स्मृति संकल्प यात्रा के संयोजक अरविन्द ने बताया कि इन तीन वर्षों (23 मार्च 2005–28 सितम्बर 2008) को एक क्रान्तिकारी नवजागरण के तीन ऐतिहासिक वर्ष बना देने के लिए हम कृत संकल्प है।

उन्होंने बताया कि इन तीन वर्षों में हमारा मुख्य काम भगतसिंह के विचारों का प्रचार-प्रसार तथा 'नौजवान भारत सभा' की इकाइयाँ गठित करना होगा। उसके बाद हमलोग आन्दोलनात्मक कार्रवाई में उतरेंगे।

'स्मृति संकल्प यात्रा' के अन्तर्गत लखनऊ के विभिन्न स्थानों पर आयोजित सभा में यात्रा के संयोजक अरविन्द ने कहा कि भगतसिंह और उस पीढ़ी के क्रान्तिकारियों ने जिस हिन्दुस्तान का सपना देखा था और कुर्बानी दी थी, वह आज भी अधूरा है। उन्होंने कहा कि एक अधूरी खण्डित आज़ादी के बाद साम्राज्यवाद से साँठगाँठ किये हुए देशी पूँजीवाद के जालिम शासन के जुवे को ढोते-ढोते आधी सदी से अधिक समय बीत चुका है। आज़ादी और जनतंत्र के सारे छल-छद्म उजागर हो चुके हैं। उन्होंने कहा कि मुट्ठीभर मुफ्तखोरों की ज़िन्दगी में चमकते उजाले के बरक्स आम लोगों की ज़िन्दगी का अँधेरा गहराता चला गया है। ऐसे में हमारे सामने सिर्फ़ एक ही रास्ता है कि हमें भगतसिंह के दिखाये रास्ते पर आगे बढ़ने का संकल्प लेना होगा।

सभा को सम्बोधित करते हुए लेखिका कात्यायनी ने कहा कि भगतसिंह के विचारों की अनवरत जलती मशाल हमें रास्ता दिखा रहे हैं। उन्होंने कहा कि इस देश की युवा पीढ़ी को चुनावबाज मदारियों का पिछलग्गू बनने से बचना होगा तथा गाँव-गाँव, शहर-शहर और कालेजों-विश्वविद्यालयों में नौजवानों व छात्रों को नये सिरे से क्रान्तिकारी संगठन बनाने होंगे। इसके बाद जैसा कि जेल की कालकोठरी से युवाओं को भेजे गये अपने सन्देश में भगतसिंह ने कहा था, छात्रों-नौजवानों को कारखानों के मज़दूरों और गाँव की झोंपड़ियों तक जाना होगा और तमाम मेहनतकशों को संगठित करना होगा। कात्यायनी ने कहा कि 'स्मृति संकल्प यात्रा' यही सन्देश लेकर इस देश के हर जीवित युवा हृदय तक पहुँचना चाहती है।

अलग-अलग जगहों पर सभा का संचालन करते हुए अरुण व नमिता ने कहा कि भगतसिंह और उनके साथियों का सपना एक जलता हुआ प्रश्न बनकर हमारी आँखों में झाँक रहा है, उनकी विरासत हमें ललकार रही है और भविष्य हमें आवाज़ दे रहा है। संचालकद्वय ने कहा कि एक ज़िन्दा क़ौम के नौजवान इसकी अनसुनी नहीं कर सकते।

सभा को गीतिका, उदयभान, शालिनी, रामबाबू, प्रमोद आदि वक्ताओं ने भी सम्बोधित किया। उक्त 12 दिवसीय यात्रा के अन्तर्गत लखनऊ नगर के अलीगंज, सेक्टर क्यू, एस.बी.आई. कालोनी, इन्दिरानगर ए.वी.सी. ब्लॉक, भूतनाथ मार्केट, चौक के विभिन्न गलियों-नुक्कड़ों, राजाजीपुरम आदि स्थानों पर प्रभात फेरियाँ, नुक्कड़ सभा, पोस्टर-प्रदर्शनी, नुक्कड़ नाटक और व्यापक पर्चा वितरण का कार्यक्रम सम्पन्न किया गया। इसके अतिरिक्त नगर की अलग-अलग कालोनियों, मुहल्लों में घर-घर जाकर भगतसिंह के विचारों को पहुँचाने का काम किया गया। इस यात्रा के दौरान उक्त कार्यक्रम के अन्तर्गत मिले हुए युवाओं और सम्पर्कों को लेकर 'भगतसिंह की विरासत और नौजवानों का रास्ता' विषय पर एक परिचर्चा भी आयोजित की गयी, जिसमें सभी वक्ताओं ने खुलकर भाग लिया और कई युवा 'नौजवान भारत सभा' के कार्यकर्ता भी बने।

यात्रा का समापन, 20 जून को काकोरी स्तम्भ पर नौजवानों द्वारा भगतसिंह के विचारों और नई क्रान्ति की तैयारी के संकल्प लेने के साथ हुआ। शपथ के बाद एक मशाल जुलूस भी निकाला गया जो हजरतगंज के विभिन्न मार्गों से होता हुआ विधानसभा के सामने समाप्त हुआ।

कार्यक्रमों में मुख्य रूप से अरविन्द, कात्यायनी, कमला पाण्डेय, रामबाबू, नमिता, गीतिका, शालिनी, स्मृति, अरुण यादव, लालचन्द, प्रमोद, उदयभान, विवेक, नन्दलाल, धीरज, अरुण, प्रशान्त आदि शामिल थे।

मासूम बचपन को नर्क के अँधेरे में ढकेलने वाले हाथों की शिनाख्त करनी होगी!

पूरे देश में आजकल फुटबाल प्रेमियों के बीच दीवानगी का आलम छाया हुआ है। कारण है 9 जून से चले रहे फुटबाल का फीफा विश्वकप टूर्नामेण्ट। फुटबाल एक ऐसा खेल है जिसमें एक्शन है, रोमांच है, कलात्मक बारीकियाँ है जो युवाओं के मिजाज के अनुकूल है। और इस कलात्मकता, ऐक्शन, रोमांच से भरपूर फुटबाल के पीछे भारतीय मानस पर जुनूनी हद तक का पागलपन सवार है और इसे भुनाने में लगा है पूरा कारोबारी जगत। तमाम तरह के विज्ञापनों के बैनर, होर्डिंग्स के बीच खेलता खिलाड़ी खुद एक विज्ञापन में तब्दील हो चुका है, उसका जूता, उसकी शर्ट, पैण्ट, उसके द्वारा पिया जाने वाला पेय पदार्थ, सबकुछ मानो उसे खुद एक मुनाफा कमाने वाले उत्पाद में बदल देता है और उसका खिलाड़ी व्यक्तित्व ही कहीं छिप जाता है।

एक सर्वे के अनुसार इसबार के फुटबाल मैच को 12 से 15 करोड़ लोग टेलीविजन पर देखेंगे और अबतक 57.6 करोड़ रुपये के टेलीविजंन विज्ञापनों की बिक्री हो चुकी है। ईएसपीएन स्टार स्पोर्टस ने 64 मैचों के सीधे प्रसारण का अधिकार पाने के लिए 44 करोड़ रुपये दिये हैं। इस मैच से मुनाफा बटोरने के होड़ में लगे सबसे बड़े प्रायोजक कोका कोला और एयरटेल है और इसके साथ ही एडीडास, इण्डियन ऑयल, मिर्क इलेक्ट्रानिक्स और मोटोरोला भी शामिल है।

लेकिन इस सारे शोरशराबे और धूमधड़ाके के बीच कितने बच्चों की सिसकियाँ दबी हुई है, किसी को सुनाई नहीं देता। इस मुनाफा कमाने की हवस के पीछे कितने मासूमों के बचपन का गला घोंटा जा रहा है, इस पर किसी का ध्यान नहीं जाता।

वो रंग-विरंगे फुटबाल, उसके पीछे भागती रंग-विरंगी खिलाड़ियों की टीम, दर्शक दीर्घा से उठता जुनूनी शोर, किलकारियाँ, सीटियाँ, चीख, तालियाँ। इन सबके बीच इंसानियत को कलंकित करने वाली कुछ कड़वी सच्चाइयाँ भी हैं। क्या आपने कभी उस फुटबाल को गौर से देखा है? जिसके पीछे पूरा देश पागल हो रहा है। अगर नहीं तो एक बार उसे उठाइये, उसके रंग-बिरंगे टुकड़ों को टटोलिये। शायद उनके बीच आपको उन बच्चों की कराहें सुनायी देगी, जिन्होंने उसे तैयार करने, सिलने में अपनी उँगलियाँ घायल की हैं, आँखों की रोशनी गँवाई हैं, अपना बचपन लुटाया है।

आखिर कौन-सा कसूर किया है उन बच्चों ने? जिनकी उम्र फुटबाल और अन्य खेल खेलने की है वो उसे तैयार करने में अपना बचपन गँवा देते हैं। रोज़ी-रोटी कमाने में लगी ये ज़िन्दगियाँ भी हमारे-आपके बच्चों की तरह सपने देखती हैं, उनके भी अरमान होते है जो उठने के पहले ही दबा दिये जाते हैं।

जिस फुटबाल विश्वकप से मुनाफाखोरों की तिजोरियाँ भरती है, करोड़ों का वारा न्यारा होता है उसे बनाने वाले हाथों में दिन भर की मेहनत की कीमत मात्र चार से लेकर दस रुपये रखी जाती है और यही फुटबाल बाजार में पहुँचकर चार से पाँच हजार रुपये तक हो जाती है।

मेरठ-सरघना रोड पर सिसोरी कला, खेड़की, किठौली, अफजलपुर पावटा, पोहली खास पावटा, जंगेठी जैसे कई गाँव है, जहाँ पहुँचते ही दिखाई देता है कि सैकड़ों की संख्या में छोटे-छोटे बच्चे जो अपनी नाजुक हथेलियों को लहूलुहान करते, सर झुकाये, आँखें गड़ाये हुए फुटबाल सीने में लगे हुए हैं। 5-14 वर्ष के ये बच्चे सुबह से शाम तक फुटबाल सिलते रहते हैं और पूरा परिवार मिलकर 12-14 घण्टे की हाड़तोड़ मेहनत के बाद बमुश्किल तमाम तीन या चार फुटवाल सिल पाता है और उसके हाथ में आते हैं तीस या चालीस रुपये। और कहीं-कहीं तो चौदह से पन्द्रह रुपये। यानी एक फुटवाल सिलने की कीमत चार-पाँच रुपये से लेकर दस रुपये तक। फुटबाल विश्वकप शुरू होने के पहले इन बच्चों का काम बहुत बढ़ जाता है। ज्यादा से ज्यादा फुटवाल सिलने की होड़ में इन बच्चों के हाथों में छाले पड़ जाते हैं, खून छलछला आता है, आँखों से पानी निकलने लगता है तथा वे लाल हो जाती हैं। बच्चों का कहना है कि माँ-बाप से दर्द होने की शिकायत करने पर डाँटकर समझाया जाता है कि धीरे-धीरे चमड़ी सख्त होने पर दर्द होना अपने-आप बन्द हो जायेगा। ये होता है गरीबी की मार झेल रहे माँ-वापों की मज़बूरी। उन्हें अपने बच्चों को इन यातनापूर्ण जीवन स्थितियों में जीने की आदत डलवानी पड़ती है।

दुनिया भर के फुटबाल उद्योग में बच्चों के शोषण की यही कहानी होती है। इण्डिया कमेटी आन नीदरलैण्ड और पाकिस्तान फेडरेशन आफ लेबर (ए.पी.एल.एफ.) के 2002 के सर्वेक्षण के अनुसार पाकिस्तान व भारत में हजारों बच्चे फुटबाल उद्योग से जुड़े हुए हैं। बाल मज़दूरों और इस उद्योग से जुड़े व्यस्क श्रमिकों को न्यूनतम से भी कम मज़दूरी मिलती है। उनके श्रम अधिकारों का पूरी तरह से उल्लंघन होता है। इन्हें न तो पूरी मज़दूरी मिलती है और न ही काम करने की उचित सुविधा।

विश्व में सबसे ज्यादा फुटबाल पाकिस्तान में बनायी जाती है। वहाँ सियालकोट व उसके आस-पास के गाँवों में करीब तीस हजार बच्चे अपने घरों में फुटबाल सिलने के काम में लगे हैं। भारत में बटाला, मेरठ व जालंधर में हजारों बच्चे इस काम में लगे हुए हैं। राष्ट्रीय श्रम संगठन के सर्वेक्षण के अनुसार अकेले जालंधर में दस हजार बच्चे इस उद्योग से जुड़े हुए हैं। ये बच्चे दिनभर में हाड़तोड़ मेहनत के बाद तीन-चार फुटबाल सिल पाते हैं। इन्हें एक फुटबाल के बदले चार से दस रुपये दिये जाते हैं जबकि विश्वकप में खेली जाने वाली एक फुटवाल की कीमत चार से पाँच हजार रुपये तक होती है। बीते बीस वर्षों में इन बाल मज़दूरों के मेहनताने में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई। अधिक फुटबाल तैयार कर ज्यादा कमाई के चक्कर में मज़दूर अपने बच्चों को भी इस काम में लगा देते हैं। शिक्षा से कोसों दूर इन बच्चों का बचपन फुटबाल उद्योग की भेंट चढ़ जाता है।

पूरी दुनिया को एक बाज़ार में तब्दील करके जहाँ विकास की ऊँचाइयों को छूने के दावे किये जा रहे हैं वहाँ इन बच्चों को नर्क के अँधेरे में ढकेल देने वाले हाथ कौन हैं? इनकी शिनाख्त की जानी चाहिए।

पूरी दुनिया के वैभव की मीनारें दरअसल इन्हीं बच्चों और स्त्रियों के खून-पसीने पर खड़ा किया गया है। आज उदारीकरण और निजीकरण के दौर में मज़दूरों के संगठित दबाव से बचने के लिए और उनके श्रम को सस्ती से सस्ती दर पर खरीदने के लिए, बड़ी से बड़ी देशी-विदेशी कम्पनियाँ उत्पादन की प्रक्रिया को कई हिस्सों में बाँटकर छोटे-छोटे कुटीर उद्योग या घरेलू उद्योगनुमा इकाइयों में बिखरा दे रही हैं। यहाँ ज्यादा से ज्यादा काम ठेके पर कराया जा रहा है। इनमें महिलायें व बच्चे बेहद कम मज़दूरी पर रोज़ दस से बारह घण्टे खटते हैं। छँटनी और तालाबन्दी के इस दौर में भारी संख्या में बेरोज़गार हो रहे मज़दूर तथा अपनी जगह-जमीन से उजड़कर सर्वहारा की कतारों में शामिल हो रहे गरीब व मध्यम किसानों के परिवार जब अपने बच्चों का पेट पाल नहीं पाते तो उन्हें इन कामों में लगा देते हैं। फुटवाल उद्योग में भी यही सब कुछ हो रहा है।

तमाम स्वयंसेवी संगठन इन बाल श्रमिकों के बर्बर शोषण को लेकर काफी 'द्रवित' होते हैं और इनके शोषण के खिलाफ़ अभियान भी चलाते हैं। इसके खात्मे के लिए वे विदेशों में यात्राएँ करते हैं। लेकिन सोचने की बात है कि पश्चिमी साम्राज्यवादी देश और उनके टुकड़ों पर पलने वाली व इशारों पर चलने वाली ये अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियाँ व स्वयंसेवी संस्थायें अचानक बच्चों को लेकर इतनी चिन्तित क्यों हो गई हैं? जो अमरीका अफगानिस्तान में आतंकवाद के खात्मे के नाम पर हजारों बच्चों की हत्यायें करवाता है, जो साम्राज्यवादी देश इराक, बोस्निया, लेबनान, साइबेरिया और दुनिया के कई क्षेत्रों में युद्धों और गृहयुद्धों की आग में लाखों बच्चों की बलि चढ़ाते हैं, वे ही तीसरी दुनिया के देशों में बाल मज़दूरी की समस्या को लेकर इतने बेचैन हो उठे हैं। इन्हीं देशों के पैसों से चलने वाली ये स्वयंसेवी संस्थाएँ हायतौबा मचा रही हैं। दरअसल ये स्वयंसेवी संस्थाएँ जनअसन्तोष के दबाव को कम करने के लिए और पूँजीवादी व्यवस्था की लूट पर भ्रम का पर्दा डालने के लिए सेफ्टी वाल्व के रूप में काम कर रही हैं। वे इस पूँजीवादी व्यवस्था के दामन पर लगे बच्चों के खून के धब्बों को साफ करने का काम कर रही हैं। उनका मकसद इस व्यवस्था को नष्ट करके वास्तव में बाल मज़दूरी का समूल नाश करना नहीं है बल्कि इसका दिखावा करके इस व्यवस्था के बारे में भ्रम पैदा करना और जनता को दिग्भ्रमित करना है। जनता की चेतना को भोथरा बनाना है।

बाल श्रम के मुद्दे को पूरी आबादी के रोज़गार और समान व सर्व सुलभ शिक्षा के मूल अधिकार के संघर्ष से अलग नहीं देखा जा सकता। जो सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था सभी हाथों को काम देने के बजाय बेरोज़गारों की फौज में निरन्तर वृद्धि कर रही है, जो व्यवस्था शिक्षा को खरीद-फरोख्त का सामान बना दे रही है उस व्यवस्था के भीतर से लगातार बाल मज़दूरों की कतारें पैदा होती रहेंगी।

लूट-शोषण और मुनाफ़े पर टिकी इस व्यवस्था के खात्मे और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बगैर हम बच्चों को बचा नहीं सकते। उनके सपनों को सजा नहीं सकते।

-बागेश्वरी

नेपाली जनता के फैसले से स्वदेशी ``राष्ट्रवादियों'' के पेट में मरोड़ क्यों?

बिगुल संवाददाता

लखनऊ। नेपाल के एक हिन्दू राष्ट्र की जगह एक धर्म निरपेक्ष राज्य में बदल जाने से सबसे ज्यादा उन्हें धक्का पहुँचा है जो भारत को 'हिन्दू राष्ट्र' में बदलने का सपना देख रहे हैं। नेपाल के राजा ज्ञानेन्द्र को वे 'करोड़ों हिन्दुओं का नेता' मानते थे और जिस व्यवस्था को वे आदर्श मानते थे, उसे नेपाल के बहादुर जनता ने धूल धूसरित कर दिया और कहीं से कोई विरोध नहीं हुआ, इससे उन्हें बहुत धक्का पहुँचा है। धक्का तो इतना ज़ोरदार है कि भाजपा के नेताओं के मुख से कराह ही निकल पाई।

सिसकी दवा-दवा कर लालकृष्ण आडवानी के मुख से निकला यह अच्छा नहीं हुआ। नेपाली प्रधानमंत्री कोइराला ने जब भाजपा अध्यक्ष राजनाथ सिंह से मुलाकात की तो वे बस इतना ही कह पाये कि आपने जो किया वह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है।

गोरखपुर के सांसद व गोरखनाथ पीठ के भावी उत्तराधिकारी आदित्यनाथ तो अपने गुस्से को बर्दाश्त ही नहीं कर पाये और नेपाल सीमा से लेकर पूरे पूर्वांचल में लोगों को गुस्सा दिलाने के लिए रैलियाँ व सभायें आयोजित की और जब इससे भी उनका गुस्सा शान्त नहीं हुआ तो उन्होंने एक दैनिक समाचार पत्र में एक लेख भी लिख दिया। इसमें उन्होंने नेपाल की संसद के इस कदम को 'हिमालयी भूल' कहा। और इसके पीछे उन्हें इस्लामी और इसाई कट्टरपंथियों की ताकत दिखाई देती है। इस हिमालयी भूल के लिए वे नेपाल की संसद को दोषी ठहराते हुए इस तथ्य को नज़रन्दाज कर जाते हैं कि नेपाल की संसद को विवश करने वाली वो नेपाली जनता थी जिसने राजा ज्ञानेन्द्र द्वारा संसद बहाली की घोषणा के अगले दिन 25 अप्रैल को जीत का जश्न मनाने के लिए काठमाण्डू की सड़कों पर जगह-जगह जो रैलियाँ निकाली उसमें जनता द्वारा नेताओं को चुनौतियाँ भी मिल रही थी। उल्लेखनीय है कि गिरिजा प्रसाद कोइराला के आवास के करीब ही आयोजित एक सभा में वक्ताओं ने चेतावनी दी कि : "नेताओ सावधान! हम संविधान सभा चाहते हैं।" एक दूसरी अन्य सभा में वक्ता ने दहाड़ते हुए कहा : "अगर गिरिजा बाबू हमारे साथ खिलवाड़ करने की कोशिश करेंगे तो हम उन्हें फाँसी पर लटका देंगे।" जनता की आकांक्षा को प्रकट करते इन वक्तव्यों से कोइराला की विवशता का पता चल जाता है। पूरे मीडिया जगत में ये खबरें प्रमुखता के साथ आ चुकी हैं।

अब कोई 'हिन्दू राष्ट्र' के अलमबरदारों से पूछे कि नेपाल की किस्मत का फैसला नेपाल की जनता करेगी या वे? नेपाल की जनता ने यदि अपने हित-अहित का फैसला करने की ज़िम्मेदारी अपने हाथों में ले ली है तो इनके पेट में मरोड़ क्यों उठने लगा? ये कौन होते हैं नेपाल के बारे में फैसला सुनाने वाले? क्या हिन्दुस्तान की जमीन छोटी पड़ रही है उनके मंसूबों को पूरा करने के लिए कि वे नेपाल में भी ताक-झाँक करने से बाज नहीं आ रहे हैं?

दरअसल हर प्रतिगामित ताकतें इतिहास को पीछे मध्ययुग में ले जाने का मंसूबा पाले रहती हैं और किसी भी प्रगतिशील कदम का विरोध वे इसी रूप में करती हैं।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर-प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : डा. दूधनाथ । सम्पादकीय पता : 69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006, सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ।